60/1-2

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

1	अध्यात्मपद	पण्डितप्रवर दौलतराम जी	1
2	सम्पादकीय		2
3	मोक्षमार्ग में वन्द्य और अवन्द्य : एक चिन्तन	डॉ. श्रेयांसकुमार जैन	5
4	जैन संस्कृत पुराणों में वर्णाश्रम धर्म	डॉ. अशोक कुमार जैन	13
5	अहिंसा और अपरिग्रह की प्रासंगिकता	नीरज जैन	23
6	मनराम कृत बारहखड़ी काव्य 'गुरु अक्षरमाला'	डॉ. गंगाराम गर्ग	27
7	भाषा विकास एवं अपभ्रंश	सूरजमलराव SRI	34
8	चांदखेड़ी का विचित्र "जैन मंदिर"	ललित शर्मा	47
9	चन्द्रगुप्त मौर्य व उनकी कृति सुदर्शन झील	प्रतिष्ठाचार्य प्रदीप कुमार जैन	53
10	[illegible] शास्त्र एवं अध्यात्मयोगी मुनि श्री विशुद्धसागर जी	प्राचार्य पं. निहालचन्द जैन	61
11	वैदिक और श्रमण संस्कृति में आदान-प्रदान : एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया	डॉ. कमलेश कुमार जैन	70
12	श्रावकाचारों में वर्णित सल्लेखना - विधि एवं साधक	डॉ. जय कुमार जैन	76
13	पचास वर्ष पूर्व नयों का विश्लेषण	पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य	86
14	संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य में वर्णित तीर्थंकर पार्श्वनाथ चरित	डॉ. हुकमचन्द जैन	103
15	जैन परम्परा में भक्ति की अवधारणा	डॉ. अशोक कुमार जैन	109
16	पाठकीय प्रतिक्रिया	पं. रतनलाल बैनाड़ा	125
17	समीक्षा	डॉ. जयकुमार जैन	127

वर्ष-60, किरण-1-2
जनवरी-जून 2007

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
429, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन (0131) 2603730

संस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/-
अनेकान्त वार्षिक शुल्क
30/-
इस अंक का मूल्य
10/-
सदस्यों व मंदिरों के
लिए निःशुल्क

प्रकाशक
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हों।

वीर सेवा मंदिर
(जैन दर्शन शोध संस्थान)
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

अध्यात्म-पद

छांड़ि दे या बुधि भोरी

छांड़ि दे या बुधि भोरी, वृथा तन से रति जोरी।

यह पर है न रहै थिर पोषत, सकल कुमल की झोरी।
यासौं ममता कर अनादितैं, बंधो कर्म की डोरी।
सहै दुख जलधि हिलोरी, छांड़ि दे या बुधि भोरी।।1।।

यह जड़ है तू चेतन, यौं ही अपनावत बरजौरी।
सम्यकदर्शन ज्ञान चरण निधि, ये हैं संपत तोरी।
सदा विलसौ शिवगोरी, छांड़ि दे या बुधि भोरी।।2।।

सुखिया भये सदीव जीव जिन, यासौं ममता तोरी।
'दौल' सीख यह लीजे पीजे, ज्ञानपीयूष कटोरी।
मिटै परवाह कठोरी, छांड़ि दे या बुधिभोरी।।3।।

– पण्डितप्रवर दौलतराम जी

7142

सम्पादकीय

जैन अध्ययन एवं अनुशीलन केन्द्रों की आवश्यकता

प्राचीनकाल के प्रमुख धर्मों में जैन धर्म का विशिष्ट स्थान है। यह धर्म कितना प्राचीन है, इसके विषय में लोगों को प्रायः ज्ञात नहीं हैं। वेदों में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि जैसे तीर्थकरों के नाम प्राप्त होते हैं। मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई में कुछ योगियों की प्रतिमायें प्राप्त हुई है, जो कि नग्न अवस्था में हैं। कायोत्सर्ग मुद्रा जैन योगियों की विशिष्ट मुद्रा है, जो आज भी तीर्थकरमूर्तियों में परिलक्षित होती है। भागवत पुराण तथा अन्य हिन्दू पुराणों में जैन तीर्थकर ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। इसका उल्लेख प्रायः हिन्दू पुराणों में उपलब्ध है। इससे पूर्व इस देश का नाम ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थकरों तथा अनगिनत सिद्धपुरुषों और मुनियों की लम्बी परम्परा रही है। आज भी दिगम्बर मुद्राधारी निष्परिग्रही जैन साधु पूरे देश में पदविहार कर जनता को धर्मोपदेश देकर समाज के नैतिक और चारित्रिक उत्थान में योगदान रहे हैं। इनके अहिंसा, अनेकान्त, सत्य, अपरिग्रह, जैसे उपदेशों ने महात्मा गांधी को भी प्रभावित किया है। ये उपदेश भारत के स्वतन्त्रता के मौलिक सूत्र बने थे।

जैन एक स्वतन्त्र दर्शन है। यह सृष्टिकर्ता ईश्वर प्रणीत धर्म न होकर उन महामानवों के द्वारा उद्घाटित धर्म है, जिन्होंने अपने त्याग, तप और पुरुषार्थ के बल पर पूर्णता को प्राप्त किया था। आतंकवाद और हिंसा से पीड़ित विश्व को जैन धर्म सही राह और त्राण दे सकता है। इसकी इसी उपयोगिता को ध्यान में रखकर भारत के प्रमुख विश्वविद्यालयो-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत

विश्वविद्यालय वाराणसी, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर, जैन विश्व भारती लाडनूँ, पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला, उत्कल संस्कृति विश्वविद्यालय भुवनेश्वर, रामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय जयपुर, लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ देहली, मैसूर विश्वविद्यालय, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, अवधेश प्रताप-सिंह विश्वविद्यालय, रीवा आदि में जैन विद्याओं का अध्ययन एवं शोधकार्य हो रहा है।

एल.डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलाजी अहमदाबाद, पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी, वीर सेवा मन्दिर नई दिल्ली, गणेशवर्णी शोधसंस्थान वाराणसी, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ इन्दौर, प्राकृत एवं जैनविद्या शोध संस्थान वैशाली, कुन्दकुन्द भारती देहली, जैन विद्या शोध संस्थान महावीर जी, इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत स्टडीज एण्ड रिसर्च श्रवणबेलगोला, रमारानी इन्स्टीट्यूट मूडबद्री, श्रमण संस्कृति संस्थान सांगानेर आदि केन्द्रों में विधिवत् जैन विद्याओं का अ ध्ययन एवं अनुशीलन हो रहा है। अनेक जैन विद्यालयों/पाठशालाओं की भूमिका भी जैन शिक्षा के विकास में महत्त्वपूर्ण रही है। इसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर लन्दन विश्वविद्यालय ने जैन स्टडीज सेन्टर की स्थापना की है।

भारत के अनेक विश्वविद्यालयों के संस्कृत, प्राकृत, इतिहास, दर्शन, कला, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा विविध प्रान्तीय भाषा विभागों के निष्णात विद्वानों के मार्गदर्शन में लगभग एक हजार शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। जर्मन के विश्वविद्यालयों में प्राकृत तथा अपभ्रंश पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य हुए हैं। जैन आगम साहित्य का हिन्दी अनुवाद हो गया है, कन्नड़ अनुवाद का कार्य प्रारम्भ हो चुका है। जैन ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रारम्भ हो चुका है। आज की यह अनिवार्य आवश्यकता हो गई है कि देश-विदेश के सभी विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में जैन दर्शन और साहित्य की शिक्षा दी जाये। प्राकृत, अप्रभ्रंश, प्राचीन कन्नड़, तमिल, गुजराती एवं हिन्दी के क्रमिक

विकास की जानकारी हेतु जैन वाङ्मय का अध्ययन आवश्यक है।

श्रमण जैन संस्कृति की सम्पूर्ण धरोहर हमारे आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्रों में सुरक्षित है। जैन समाज यों तो उत्सवों में अति उत्साह से तन-मन और धन से सहभागिता करता है, परन्तु इस महत्त्वपूर्ण विधा के उन्नयन और विकास में 20वीं शताब्दी में जिन संस्थाओं की स्थापना हुई और उनसे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए, उनकी गति अब मन्थर हो चुकी है। चर्चा तो बहुत होती है, चिन्ता भी व्यक्त की जाती है; लेकिन अपेक्षित कार्य की दिशा में सक्रियता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। अतः हम सभी का यह पुनीत कर्तव्य बनता है कि हम श्रुतपंचमी पर मात्र श्रुत-आराधना ही न करें, अपितु उसके उद्धार के लिए भी सक्रिय भागीदारी की मानसिकता विकसित कर उसे गति प्रदान करने में आगे आवें।

आज के वैश्विक परिदृश्य में अहिंसा की जितनी आवश्यकता महसूस की जा रही है, उसका अहसास हमें इस बात से हो जाना चाहिए कि महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति ने सत्य, अहिंसा को व्यावहारिक सूत्र प्रदान कर न केवल देश को स्वतन्त्र कराया था, अपितु विश्व को एक जीवन जीने की दिशा भी तय की थी। इस समय गांधी जयन्ती को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर **अहिंसा दिवस** के रूप में मनाये जाने की घोषणा हो चुकी है। अतः सत्य, अहिंसा के पुजारियों को उसके प्रचार-प्रसार में सक्रिय भागीदारी करनी ही चाहिए।

– डॉ० जयकुमार जैन

मोक्षमार्ग में वन्द्य और अवन्द्य
एक चिन्तन

— डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

भारतीय दार्शनिक परम्परा में मोक्ष सर्वमान्य तत्त्व है। इसके प्राप्ति के उपायों में वैमत्य है, किन्तु जैनाचार्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को ही मोक्ष का मार्ग-उपाय कहते हैं।[1] ये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय हैं। जो इनको धारण करता है वह मोक्षमार्गी है। आचार्य कुन्दकुन्द मार्ग और मार्गी का अभेद करके मार्गी को ही मार्ग रूप में स्वीकार करते हैं-

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।।10।।सूत्रपाहुड

वस्त्र मात्र का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण करना और दिन में एक बार खडे होकर हाथ में भोजन करना ही जिनेन्द्र भगवान् ने मोक्षमार्ग कहा है, शेष मुद्रा अमार्ग हैं, मोक्षमार्ग नहीं है।

ऐसा ही और भी कहा है।[2] आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने मुख्यतः तो मुनि को ही मोक्षमार्गी मुमुक्षु कहा है।[3] गृहस्थ को भी मोक्षमार्गस्थ स्वीकार किया है।[4] इसीलिए पंडित दौलतराम ने मोक्षमार्गी को उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार से वर्णित किये हैं।[5]

मोक्षमार्ग में आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रथम लिंग जिनरूप (दिगम्बर मुनि), द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक और तीसरा लिंग आर्यिकाओं का कहा है।[6] इन्ही की वन्दना विधि पर विचार किया है। वन्दना विधि के अन्तर्गत विनय वाचक णमोत्थु, णमो, वंदेमि, वंदामि, इच्छायार, 'प्राकृत शब्द तथा नमोस्तु, नमः, नमामि, वंदामि, वन्दन, इच्छामि, इच्छाकार आदि संस्कृत शब्दों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द

साहित्य में और अन्य प्राचीन ग्रन्थों में पंचपरमेष्ठियों को वंदामि, वंदेमि, णमोत्थु पदों से नमन किया गया है। आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को अरिहंत, सिद्ध, श्रुत आदि के समान ही विनय प्रगट की गई है। परिग्रहधारी कोई भी हो चाहे आर्यिका हो या श्रावक श्राविका उन्हें इच्छाकार से विनय प्रगट की गई है। लोक में देव, मानव, दानव से आरम्भ परिग्रहरहित संयमी ही पूज्य माना गया है।[7]

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने यह बताया है कि किसके साथ किस प्रकार की विनय की जाय, किसको क्या शब्द विनय में प्रयुक्त किया जाता है, वे लिखते हैं कि दिगम्बर मुनि वन्दना के योग्य हैं और अन्य लिंग इच्छाकार के योग्य हैं, जैसा कि उनके द्वारा लिखा गया है-

जे बावीस परीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मखयणिज्जरा साहु।।12।। सूत्रपाहुड
अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेव सम्मसंजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय।।13।। सूत्रपाहुड

अर्थात् सैकड़ों शक्तियों से संयुक्त जो 22 परीषहों को सहन करते हुए नित्य कर्मों की निर्जरा करते हैं, ऐसे दिगम्बर साधु वन्दना के योग्य हैं और शेष लिंगधारी वस्त्र धारण करने वाले हैं, परन्तु जो ज्ञान, दर्शन से संयुक्त हैं, वे इच्छाकार करने योग्य हैं।

ये दोनों गाथाएं वन्दना विधि को दो रूप में ही प्रतिपादित करती हैं। एक तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु जो सकल परिग्रह से रहित हैं, उन्हें वन्दना नमोस्तु आदि कहकर विनय करना योग्य है और जिनके पास कुछ भी परिग्रह है उन्हें इच्छामि, इच्छाकार कहकर विनय करना कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने आर्यिकाओं की विनय भी ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं जैसी बतायी है। वर्तमान में आर्यिकाओं की विनय उत्तम श्रावकों से भिन्न और अधिक होती है, इन्हें उत्तम श्रावकों से श्रेष्ठ भी माना जाता है। यह विचारणीय है कि आर्यिकाओं के लिए

वन्दामि/वन्दना शब्द का प्रयोग कब और कहां से आया है? लोक में प्रचलित है अतः स्वीकार तो किया ही जाना चाहिए किन्तु संयमधारण करने की विवक्षा से यथायोग्य विनय को जैनाचार्यों ने महत्त्व दिया है। अर्थात् पूज्यता और वन्द्यता में निर्ग्रन्थता को प्रथम स्थान है क्योंकि सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका के द्वारा भी आज का नवदीक्षित साधु अभिवंदन, वन्दन, नमस्कार व विनय से पूज्य है।[8] आर्यिकाओं द्वारा साधुओं को की जाने वाली विनय-वन्दना की भी व्यवस्था है अर्थात् आर्यिकाएँ आचार्यों को पांच हाथ दूर से, उपाध्याय को छह हाथ दूर और साधुओं को सात हाथ दूर से गवासन में बैठकर वन्दना करती हैं।[9] मुनिजन आर्यिकाओ को आशीर्वाद पूर्वक समाधिरस्तु या कर्मक्षयोस्तु बोलते हैं अर्थात् मुनिजन आर्यिकाओं को वन्दामि शब्दों द्वारा विनय व्यवहार नहीं करेंगे। मुनि और आर्यिकाओं की परस्पर में वन्दना युक्त नहीं हैं।[10]

वर्तमान मे गृहस्थों द्वारा वन्दना या विनय करते समय पात्र का विचार नहीं किया जाता है, जो मार्ग में दोष पैदा करता है। पात्र की योग्यता से ही विनय वाचक शब्दों का प्रयोग उचित माना गया है। ऐसा कहीं नहीं है कि किसी को भी किसी भी शब्द से विनय कर ली जाय। विनय गृहस्थो द्वारा तो की जानी चाहिए, साधुओं के द्वारा भी पात्रानुसार विनय करना अपेक्षित होता है। कहा भी गया है-

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण।।129।।भग०आ०

रत्नत्रय में जो उत्कृष्ट अथवा रत्नत्रय में जो अपने से हीन हैं उनकी आर्यिकाओं में और गृहस्थ वर्ग में यह विनय यथायोग्य प्रमाद रहित होकर करनी ही चाहिए।

यहाँ स्पष्ट है कि जो श्रेष्ठ आचरण वाले हैं, उनकी विनय करना ही चाहिए। अपने से श्रेष्ठ चारित्र वालों को भी सम्मान देना ही

चाहिए। क्योंकि जिसके पास रत्नत्रय विद्यमान है वह विनय योग्य है। हॉ, विनय में किससे कैसा व्यवहार और कैसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए? सो ऊपर बताया हुआ है। भगवती आराधना में यह भी बताया गया है कि संयमोपकरण ज्ञानोपकरण तथा अन्य भी जो उपकरण उनमें औषधादि में आतपनादि योगों में इच्छाकार करना चाहिए।[11] यहाँ मुनियों से भिन्न पात्रों को इच्छाकार का विधान किया गया है, न की वन्दना का है। वन्दना के योग्य तो रत्नत्रयधारी मुनि ही कहे गये हैं अर्थात् दर्शन ज्ञान चारित्र और तपविनय में स्थित सराहनीय गणधरों द्वारा गुणानुवाद किये जाने वाले साधु ही वन्दने योग्य हैं[12] और भी कहा है 'अनेक प्रकार के साधु सम्बन्धी गुणों से युक्त पूज्य साधु ही मोक्ष की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञानियों द्वारा वन्दने योग्य हैं।[13] वन्दना कब करना चाहिए इसका भी विधान है 'एकान्त भूमि में पद्मासनादि से स्वस्थ चित्तरूप से बैठे हुए मुनि की वन्दना करनी चाहिए और वह भी उनकी विज्ञप्ति लेकर करना चाहिए। आलोचना के समय, प्रश्न के समय, पूजा व स्वाध्याय के समय तथा क्रोधादि अपराध के समय आचार्य, उपाध्याय, साधु की वन्दना करनी चाहिए।[14] दिगम्बर मुनि जो पूर्ण संयम का पालन करते हैं, अट्ठाईस मूलगुणों से सम्पन्न हैं, वे अवश्य ही वन्द्य हैं। जो उत्कृष्ट चारित्र वाले साधु की वन्दना नहीं करता है वह जिनागम से वाह्य है। और मिथ्यादृष्टि है जैसा कि कहा भी है-

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णएण मच्छरिओ।
सो संजम पडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।। 24।। दंसणपाहुड

जो सहजोत्पन्न यथाजात रूप को देखकर मान्य नहीं करता तथा उसका विनय सत्कार नहीं करता और मत्सरभाव करता है, वह यदि संयमप्रतिपन्न भी है, तो भी मिथ्यादृष्टि है।

इससे स्पष्ट है कि संयत मुनि पचपरपमेष्ठी के समान पूज्य हैं। अरिहन्त सिद्ध सकल जिन हैं, आचार्य आदि एकदेश जिन हैं। इनमें अरिहन्त आदि के समान देवत्व है। अत. उन्हीं के समान वन्द्य हैं और

इनके दर्शन वन्दन आदि से कर्म का प्रणाशन भी होता है। धवल में शंका की गई है 'यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार पलाल राशि को अग्नि समूह में परिणत होने का कार्य अग्नि के एक कण से भी देखा जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिए इसलिए आचार्यादिक भी देव हैं।[15]'

मोक्षमार्ग में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु को समान रूप से वन्दना योग्य कहा गया हैं। साधुओं (आचार्य उपाध्याय साधु) में तीन परमेष्ठी गर्भित हैं। ये निर्ग्रन्थता वीतरागता निष्परिग्रहता, रत्नत्रय की विशिष्टता, निर्मोहीपना आदि गुणों से वन्द्य हैं। इनमें भी जो ज्ञान गुण की अधिकता रखता है, वह विशेष वन्दना के योग्य है। जैसा कि कहा भी गया है चारित्र व तप में अधिक न होते हुए भी सम्यग्ज्ञान गुण से ज्येष्ठ होने के कारण श्रुत की विनय के अर्थ वह अभ्युत्थानादि विनय के योग्य है। यदि कोई चारित्र गुण में अधिक होते हुए भी ज्ञानादि गुण की वृद्धि के अर्थ बहुश्रुतजनों के पास वन्दनादि क्रिया में प्रवर्तता है तो कोई दोष नहीं परन्तु यदि केवल ख्याति पूजा व लाभ के अर्थ ऐसा करता है तब अतिदोष का प्रसंग आता है।[16]

अरिहन्त सिद्ध के समान ही आचार्य श्रुत भक्ति में वन्दना की गई है। इच्छामि भंते! आइरिय भत्ति काउस्सग्गो तस्सालोचेउं सम्मणाण सम्मदंसण सम्मचरित जुत्ताणं पंचविहाचाराणं आइरियाणं, आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं तिरयण-गुण-पालण-रयाणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वन्दामि णमंसामि। ये स्तुति/विनय वाचक पदों का समान रूप से व्यवहार किया गया है। यही पद श्रुतभक्ति आदि में भी प्रयुक्त हैं। अतः यह सिद्ध है कि पूर्व में विनय वाचक पदों को किसी के साथ नियत नहीं किया था। अब वन्दना के अयोग्य का कथन है, वन्दना मुनि को भी अन्य मुनि के लिए कब नही करना चाहिए, यह भी जानने योग्य है। आचार्य शिवार्य लिखते हैं–

वखित्तपराहुतं तु पमत्तं मा कदाइं वंदिज्जो।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि।।597।।भगवती आ०

व्याकुल चित्तवाले को, निद्रा विकथा आदि में प्रमत्त दशा को प्राप्त को तथा आहार व नीहार करते को वन्दना नहीं करना चाहिए।

यद्यपि यह एक साधु द्वारा दूसरे साधु को वन्दना न करने का कथन है। श्रावक भी उक्त प्रमत्त दशा में प्रवृत्त साधु को वन्दना नहीं करता है तो उसमें किसी भी प्रकार की अवज्ञा (अविनय) नहीं होती है। यदि कोई दिगम्बर मुनि भी है और वह रत्नत्रय से भ्रष्ट है तो भी वन्दना के योग्य नहीं है "दंसणहीणो ण वंदिव्वो" अर्थात् सम्यक्त्वविहीन वन्द्य नहीं है। असंयमी तथा वस्त्रविहीन द्रव्य लिंगी साधु भी वन्द्य नहीं है क्योंकि दोनों ही संयम रहित के समान ही हैं।[17] पार्श्वस्थ कुशील संसक्त, अवसन्न और मृगचारी ये पांच प्रकार के मुनि यद्यपि दिगम्बर मुद्रा को धारण करते हैं किन्तु ये जिनधर्म से वाह्य ही कहे जायेंगे। ये दर्शन ज्ञान चरित्र युक्त नहीं होते है और धर्मादि में हर्ष रहित हैं अतः वन्दना के अयोग्य हैं।[18] आचार्य जयसेन का कहना है कि श्रमणाभासों के प्रति वन्दना आदि निषिद्ध ही हैं।[19] स्वेच्छाचारी कोई भी हो वह पूज्य/वन्द्य नहीं है। जैसा कि इन्द्रनन्दि ने कहा है- जो कोई मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका पूर्वाचार्यों की आज्ञाओं का उल्लंघन कर कुछ भी क्रिया करते हैं, स्वेच्छाचारी बनकर यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करते हैं, उनको मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए। वे महात्माओं के द्वारा वन्दनीय/पूजनीय नहीं हैं। अपराजितसूरि ने लिखा है-**असंयतस्य संयतासंयतस्य वा नाभ्युत्थानं कुर्यात्** (भ०आ०116 की विजयोदया टीका) असंयत या संयतासंयत जनों के आने पर खड़ा होना योग्य नहीं है। यह व्यवस्था मुनियों के लिए है न कि गृहस्थों को। गृहस्थ तो संयतासंयत की अभ्युत्थान आदि विनय में अवश्य करेंगे। मूलाचार मे वर्णित समाचार विधि आर्यिकाओं के प्रति उचित विनय व्यवहार की शिक्षा देती है।[20]

शास्त्रों और पुराणों में मुनियों के लिए वन्दन, नमन, प्रणमन आदि शब्दों के द्वारा विनय सर्वत्र है, किन्तु आर्यिकाओं के लिए वन्दामि वन्दना का प्रयोग शास्त्रो मे कम देखने को मिलता है किन्तु कहीं-कही

आर्यिकाओं को वन्दामि पद से विनय प्रगट की गई है। जैसे जैनाचार्य इन्द्रनन्दि द्वारा भी लिखा गया है-

निर्ग्रन्थानां नमोऽस्तु स्यादार्यिकाणां च वन्दना।
श्रावकस्योत्तमस्योच्चैरिच्छारोऽभिधीयते।। 51।। –नीतिसार समुच्चय

अर्थात निर्ग्रन्थ मुनिराजों को नमस्कार करते समय नमोऽस्तु कहना चाहिए, आर्यिकाओं को वन्दामि कहना चाहिए और उत्तम श्रावकों को इच्छामि या इच्छाकार बोला जाता हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है।[21] अतः पूर्वाचार्यों की परम्परा को समादर देते हुए परवर्ती कथनों और लोकपरम्परा को मानकर मुनियों को नमोऽस्तु, आर्यिकाओं को वन्दामि और उत्तम श्रावक-श्राविका क्षुल्लक ऐलक एवं क्षुल्लिकाओं को इच्छामि व्यवहार करने की सामाजिक व्यवस्था में बाधा नहीं डालकर इस परम्परा को सभी को मानना चाहिए। जिनागम में व्रतों से परिपूर्ण स्त्रियों का भी सम्मान करना आवश्यक है इसलिए उनका लोक व्यवहार के अनुसार सम्मान आदि करना ही चाहिए।[22] लोक प्रसिद्ध पद व्यवहार भी मान्य होना चाहिए क्योंकि परम्परा (रूढ़ि) भी स्वीकार्य होती है। अतः मुनियों को नमोऽतु आर्यिकाओं को वन्दामि और ऐलक क्षुल्लक आदि को इच्छामि/इच्छाकार पदव्यवहार भी प्रचलन में रहे हैं, वह आज भी सामयिक हैं। इन्हीं विनय वाचक पदों से विनय व्यवहार चले यही आवश्यक और योग्य है।

सन्दर्भ-

1. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग । तत्त्वार्थसूत्र प्र० सूत्र।।
2. णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मगया सव्वे।। सूत्रपाहुड 23।।
3. स्वयभूस्तोत्र।
4. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
   अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने ।।33।।रत्न०श्रा०
5. द्विविध संग विन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी।
   मध्यम अन्तर आतम है जे देशव्रती अनगारी।
   जघन कहें जे अविरतसमदृष्टि तीनो शिवमगचारी।। –छहढाला

6. सूत्रपाहुड 20,21,22
7. सूत्रपाहुड।।
8. वरिससंयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहु।
अभिगमणवंदण णमसणण विणएण सो पुज्जो।। मोक्षपाहुड 12 की टीका में उद्धृत
9. पंच छः सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधु य।
परिहरिऊणज्झाओ गवासणेव वदंति।। भगवती आराधना 195
10. मुनिजनस्य स्त्रियाश्च परस्परं वन्दनापि न युक्ता।
यदि ता. वन्दन्ते तदा मुनिभिर्नमोऽस्त्विति न वक्तव्यं किं तर्हि वक्तव्यं समाधिकर्मक्षयोऽस्त्विति। मोक्षपाहुड 12 टीका पृ० 313
11. संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे।
जोग्गग्गहणादीसु अ इच्छायारो दु कादव्वो।। भगवती आराधना।।131
12. दसणणाणचरित्ते तव विणये णिच्चकालमुवसत्था।
एदेदु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं।। दंसपाहुड 23
13. इत्याद्यनेकधानेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः।
नमस्य· श्रेयसेऽवश्य ....।।674 पचाध्यायी उत्तरार्द्ध
14. अनगार धर्मामृत 753-54प्र०772
15. धवलः1/1.1.1/52.2
16. यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वात्श्रुतविनयार्थमभ्युत्थेयाः। यदि बहुश्रुताना पार्श्वेज्ञानादिगुणवृद्धयर्थं स्वयचारित्रगुणाधिका अपि वन्दनादि क्रियासु वर्तन्ते तदाति प्रसगदोषो भवति।। प्रवचनसार ता० वृ० 263 एव 267 गाथाओं के अन्तर्गत।
17. असजदो ण वदे वच्छविहीणो वि तो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।। दसणपाहुड 26
18. भगवती अराधना 1949
19. इतरेषां तु श्रमणाभासानां ता· प्रतिषिद्धा एव। प्रवचनसार ता०वृ०263
20. समाचार अधिकार मूलाचार
21. क) यथा हि यथायोग्यप्रतिपत्तया। तत्र मुनीन "नमोऽस्तु इति आर्यिका वन्दे इति। श्रावकान् इच्छामि इत्यादि प्रतिपत्तया"। सागार धर्मामृत 6/12 की आशाधरकृत स्वोपश टीका का अंश।
(ख) गणहर णिग्गंथहँ पणवेप्पिणु अज्जियाहँ वदणय करेप्पिणु।
खुल्लय इच्छायारु करेप्पिणु सावहा णु सावय पुछप्पिणु।। सिरिवालचरिउ पृ० 5
22 पचाध्यायी उत्तरार्द्ध 735

– रीडर संस्कृत विभाग,
दि. जैन कॉलिज, बड़ौत।

जैन संस्कृत पुराणों में वर्णाश्रम धर्म

-- डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतीय परम्परा में जैनधर्म अपनी उदारता और व्यापकता के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि व्यक्ति स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बन के कारण वह अन्य सब धर्मो में श्रेष्ठ धर्म गिना जाता है। विश्व में जितने धर्म हैं उनकी उत्पत्ति प्रायः अवतारी पुरुषों के आश्रय से मानी गई है किन्तु जैन और बौद्ध ये दो धर्म इसके अपवाद हैं।

षट्कर्म व्यवस्था और तीन वर्ण- साधारणतः आजीविका और वर्ण ये पर्यायवाची नाम हैं, क्योंकि वर्णों की उत्पत्ति का आधार ही आजीविका है। जैन पुराणों में बतलाया है कि कृतयुग के प्रारम्भ में कल्पवृक्षों का अभाव होने पर प्रजा क्षुधा से पीड़ित होकर भगवान ऋषभदेव के पिता नाभिराज के पास गई। प्रजा के दुःख को सुनकर नाभिराज ने यह कह कर कि इस संकट से प्रजा का उद्धार करने में भगवान ऋषभदेव विशेषरूप से सहायक हो सकते है, उसे उनके पास भेज दिया। क्षुधा से आर्त्त प्रजा के उनके सामने उपस्थित होने पर उन्होंने उसे असि, मषि, कृषि, विद्या वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों का उपदेश दिया। इससे तीन वर्णों की उत्पत्ति हुई। आचार्य जिनसेन ने लिखा है-

उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा,
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः।।

आदिपुराण 1/16-183

उसी समय आदिब्रह्मा भगवान वृषभदेव ने तीन वर्णो की स्थापना की थी जो कि क्षतत्राण अर्थात् विपत्ति से रक्षा करना आदि गुणों के द्वारा क्रम से क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाते थे। और भी लिखा है-

क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदा भवन्।
वैश्याश्च कृषि वाणिज्यपाशुपाल्योपजीविताः।।
तेषां सुश्रषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्यकारवः।
कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः।।

वही 16/184,185

उस समय जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय हुए, जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन आदि के द्वारा जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे और जो उनकी सेवा, सुश्रूषा करते थे वे शूद्र कहलाते थे। वे शूद्र दो प्रकार के थे एक कारु और दूसरे अकारु। धोबी आदि शूद्र कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे। कारु शूद्र भी स्पृश्य और अस्पृश्य के भेद से दो प्रकार के माने गये है। उनमें जो प्रजा के बाहर रहते है उन्हें अस्पृश्य अर्थात् स्पर्श करने के अयोग्य कहते है और नाई वगैरह को स्पृश्य अर्थात् स्पर्श करने के योग्य कहते हैं।

इस प्रकार प्रजा उस समय अपने-अपने योग्य कर्मों को यथायोग्य रूप से करती थी। अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोडकर कोई दूसरी आजीविका नहीं करता था इसलिए उनके कार्यों में संकर (मिलावट) नहीं होता था। उनके विवाह, जाति सम्बन्ध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान आदिनाथ की आज्ञानुसार होते थे। कर्मभूमि की रचना करने वाले भगवान वृषभदेव ने राज्य पाकर महाराजा नाभिराय के समीप ही प्रजा का पालन करने के लिए इस प्रकार प्रयत्न किया। भगवान ने सबसे पहले प्रजा की सृष्टि (विभाग आदि) की फिर उसकी आजीविका के नियम बनाये और फिर वह अपनी-अपनी मर्यादा का उल्लंघन न कर सके इस प्रकार के नियम बनाये। इस तरह वे प्रजा का शासन करने लगे। उस समय भगवान ने अपनी दोनों भुजाओं से शस्त्र धारण कर क्षत्रियो की सृष्टि की थी अर्थात् उन्हें शस्त्रविद्या का उपदेश दिया था सो ठीक ही है, क्योंकि जो हाथों में हथियार लेकर सबल शत्रुओं के प्रहार से निर्बलों की रक्षा करते हैं वे ही क्षत्रिय कहलाते हैं।

तदनन्तर भगवान ने अपने उरुओं से यात्रा दिखलाकर अर्थात् परदेश जाना सिखलाकर वैश्यों की रचना की। सो ठीक ही है, क्योंकि जल, स्थल आदि प्रदेशों में यात्रा कर व्यापार करना ही उसकी मुख्य आजीविका है। हमेशा नीच (दैन्य) वृत्ति में तत्पर रहने वाले शूद्रों की रचना वृषभदेव ने पैरों से की थी। क्योंकि क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णों की सेवा, सुश्रूषा आदि करना ही उसकी मुख्य आजीविका है। इस प्रकार तीन वर्णों की सृष्टि तो स्वयं भगवान वृषभदेव ने की थी।

वर्णों की व्यवस्था तब तक सुरक्षित नहीं रह सकती जब तक कि विवाह सम्बन्धी व्यवस्था न की जाये इसलिए भगवान वृषभदेव ने विवाह व्यवस्था इस प्रकार बनायी थी कि शूद्र शूद्र कन्या के साथ ही विवाह करे वह ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की कन्या के साथ विवाह नहीं कर सकता। वैश्य वैश्यकन्या तथा शूद्र कन्या के साथ विवाह करे तथा ब्राह्मण ब्राह्मण कन्या के ही साथ विवाह करे परन्तु कभी किसी देश में वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्याओं के साथ विवाह कर सकता है।

उस समय भगवान ने यह भी नियम प्रचलित किया था कि जो कोई अपने वर्ण की निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे वर्ण की आजीविका करेगा, वह राजा के द्वारा दण्डित किया जायेगा क्योंकि ऐसा न करने से वर्णसंकीर्णता हो जायेगी अर्थात् सब वर्ण एक हो जायेंगे उनका विभाग नहीं हो सकेगा। भगवान आदिनाथ ने विवाह, आदि की व्यवस्था करने के पहले ही असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन षट्कर्मों की व्यवस्था करा दी थी इसलिए उक्त छह कर्मों की व्यवस्था होने से यह कर्मभूमि कहलाने लगी थी। इस प्रकार ब्रह्मा आदिनाथ ने प्रजा का विभाग कर उनके योग (नवीन वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा) की व्यवस्था की थी।

ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति- ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओं के साथ

भारतवर्ष को जीतकर साठ हजार वर्ष में दिग्विजय से वापस लौटे। जब वे सब कार्य कर चुके तब उनके चित्त में यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि दूसरे के उपकार में मेरी इस सम्पदा का उपयोग किस प्रकार हो सकता है? मैं श्री जिनेन्द्रदेव का बड़े ऐश्वर्य के साथ महामह नामक यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त संसार को सन्तुष्ट करूं। सदा निःस्पृह रहने वाले मुनि तो हम लोगों से धन-धान्य आदि सम्पत्ति के द्वारा पूजा करने के योग्य है। जो अणुव्रत को धारण कराने वाले हैं, धीर-वीर हैं और गृहस्थों में मुख्य हैं ऐसे पुरुष ही हम लोगों के द्वारा इच्छित धन तथा सवारी आदिक वाहनों के द्वारा तर्पण करने के योग्य हैं। इस प्रकार सत्कार करने के योग्य व्यक्तियों की परीक्षा करने की इच्छा से राजराजेश्वर भरत ने उस समय समस्त राजाओं को बुलाया और सबके पास खबर भेज दी कि आप लोग अपने-अपने सदाचारी इष्ट मित्र तथा नौकर-चाकर आदि के साथ आज हमारे उत्सव में अलग-अलग आवें। इधर चक्रवर्ती ने उन सबकी परीक्षा करने के लिए अपने घर के आंगन में हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये। उन लोगों में जो अव्रती थे वे बिना किसी सोच-विचार के राजमन्दिर में घुस आये। राजा भरत ने उन्हें एक ओर हटाकर बाकी बचे हुए लोगों को बुलाया परन्तु बड़े-बड़े कुल में उत्पन्न हुए और अपने व्रत की सिद्धि के लिए चेष्टा करने वाले उन लोगों ने जब तक मार्ग में हरे अंकुर है, तब तक उसमें प्रवेश की इच्छा नहीं की। पाप से डरने वाले कितने ही लोग दयालु होने के कारण हरे धान्यों से भरे हुए राजा के आंगन का उल्लंघन किये बिना ही वापिस लौटने लगे, परन्तु जब चक्रवर्ती ने उनसे बहुत ही आग्रह किया तब वे दूसरे प्रासुक मार्ग से राजा के आंगन को लांघ कर उनके पास पहुंचे। आप लोग पहले किस कारण से नहीं आये थे और अब किस कारण से आये है? ऐसा जब चक्रवर्ती ने उनसे पूंछा तब उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया- आज पर्व के दिन कोंपल, पत्ते तथा पुष्प आदि का विघात नही किया जाता और न जो अपना कुछ बिगाड़ करते है ऐसे उन कोंपल आदि मे उत्पन्न होने वाले जीवों का भी विनाश किया जाता

है। हे देव। हरे अंकुर आदि में अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, ऐसे सर्वज्ञ देव के वचन हम लोगों ने सुने है। इसलिए जिसमें गीले-गीले फल, पुष्प और अंकुर आदि से शोभा की गई है ऐसा आपके घर का आंगन आज हम लोगों ने नहीं खूंदा है। इस प्रकार उनके वचनों से प्रभावित हुए, सम्पत्तिशाली भरत ने व्रतों में दृढ़ रहने वाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान, मान आदि सत्कार से सम्मानित किया। पद्म नामकी निधि से प्राप्त हुए एक से लेकर ग्यारह तक की संख्या वाले ब्रह्मसूत्र नाम के सूत्र से (व्रतसूत्र) से उन सबके चिह्न दिये। प्रतिमाओं के द्वारा किये हुए भेद के अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये है ऐसे इन सब का भरत ने सत्कार किया तथा जो व्रती नहीं थे उन्हें वैसे ही जाने दिया। भरत चक्रवर्ती ने जिनका सम्मान किया है, ऐसे व्रत धारण कराने वाले लोग अपने-अपने व्रतों में और भी दृढ़ता को प्राप्त हो गये तथा अन्य लोग भी उनकी पूजा आदि करने लगे। भरत ने उन्हें उपासकाध्ययनांग से इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया। विधि से जो जिनेन्द्रदेव की महापूजा की जाती है उसे विधि के जानने वाले आचार्य इज्या नामकी प्रथम वृत्ति कहते हैं। विशुद्ध आचरणपूर्वक खेती आदि का करना वार्ता कहलाती है तथा दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति ये चार प्रकार की दत्ति कही गयी हैं।

अनुग्रह करने योग्य प्राणियों के समूह पर दयापूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि के साथ उनके भय दूर करने को पण्डित लोग दत्ति मानते हैं। महातपस्वी मुनियों के लिए सत्कारपूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं। क्रिया, मन्त्र और व्रत आदि से जो अपने समान हैं तथा जो संसार समुद्र से पार कर देने वाला कोई अन्य उ त्तम गृहस्थ है उसके लिए पृथ्वी, स्वर्ण आदि देना अथवा मध्यमपात्र के लिए समान बुद्धि से श्रद्धा के साथ जो दान दिया जाता है वह समानदत्ति है। अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र की

समस्त कुलपद्धति तथा धन के साथ अपने कुटुम्ब समर्पण करने को सकलदत्ति कहते हैं। शास्त्रों की भावना करना स्वाध्याय है, उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना संयम है। यह छह प्रकार की विशुद्ध वृत्ति इन द्विजों के करने योग्य है। जो इनका उल्लंघन करता है वह मूर्ख नाम मात्र से ही द्विज है, गुण से द्विज नहीं है। तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होने के कारण है। जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञान से रहित है वह केवल जाति से ही ब्राह्मण है। इन लोगों की आजीविका पाप रहित है, इसलिए इनकी जाति उत्तम कहलाती है तथा दान, पूजा, अध्ययन आदि कार्य मुख्य होने के कारण व्रतों की शुद्धि होने से वह उत्तम जाति और भी सुसंस्कृत हो जाती है। यद्यपि जाति नामकर्म के उदय से मनुष्य जाति एक ही है तथापि आजीविका के भेद से होने वाले भेद के कारण वह चार प्रकार की हो गयी है। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और नीच वृत्ति का आश्रय लेने से मनुष्य शूद्र कहलाते है। इसलिए द्विज जाति का संस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्यास से ही माना जाता है परन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्यास से जिनका संस्कार नहीं हुआ है वह जाति मात्र से द्विज कहलाता है। जो एक बार गर्भ से और दूसरी बार क्रिया से इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ तो इसे द्विजन्मा अथवा द्विज कहते है परन्तु जो क्रिया और मन्त्र दोनों से ही रहित है वह केवल नाम को धारण करने वाला द्विज है। इसलिए इन द्विजों की जाति के संस्कार को दृढ़ करते हुए सम्राट भरतेश्वर ने अनेक क्रियाओं का विधान किया।

पद्मचरित में ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वर्णन है कि एक बार अयोध्या नगरी के समीप भगवान ऋषभदेव पधारे, उन्हें आया जानकर भरत मुनियों के उद्देश्य से बनवाया हुआ नाना प्रकार का उत्तमोत्तम भोजन नौकरों से लिवाकर भगवान के पास पहुंचे आहार के लिए प्रार्थना करने पर ऋषभदेव ने कहा कि जो भिक्षा मुनियों के उद्देश्य

से तैयार की जाती है वह उनके (ऋषभदेव के) योग्य नहीं है। मुनिजन उद्दिष्ट (विशेष उद्देश्यपूर्वक तैयार किया हुआ) भोजन ग्रहण नहीं करते। ऋषभदेव के ऐसा कहने पर भरत ने इस भोजन सामग्री से गृहस्थ का व्रत धारण करने वाले पुरुषों को भोजन कराना चाहा। सम्राट् ने आंगन के बोये हुऐ जौं, धान्य, मूंग उड़द आदि के अंकुरों से सम्यग्दृष्टि पुरुषों की छांट कर ली तथा उन (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों को जिनके रत्न पिरोया गया था ऐसे स्वर्णमय सुन्दर सूत्र के चिह्न से चिन्हित कर भवन के भीतर करा लिया और उन्हें इच्छानुसार दान दिया। भरतेश्वर के द्वारा सत्कार पाकर ब्राह्मण गर्वयुक्त हो समस्त पृथ्वी पर फैल गये। एक बार भगवान ऋषभदेव ने अपने समवसरण में कहा कि भरत ने जिन ब्राह्मणों की रचना की है, वे वर्द्धमान तीर्थङ्कर के बाद पाखण्डी एवं उद्धत हो जावेंगे ऐसा सुनकर भरत कुपित होकर उनके मारने के लिए उद्यत हुए। भगवान ऋषभदेव ने हे पुत्र! इनका हनन मत करो (मा हननं कार्षीः) यह शब्द कहकर उनकी रक्षा की थी इसलिए आगे चलकर ये माहन (ब्राह्मण) इस प्रसिद्धि को प्राप्त हो गये। आचार्य रविषेण ने लिखा है-

न जातिर्गर्हिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।। पद्मचरित पर्व11/203

जीवों का जन्म दो प्रकार का है एक तो शरीर जन्म और दूसरा संस्कार जन्म। इसी प्रकार जैन शास्त्रों में जीवों का मरण भी दो प्रकार का माना गया है। पहले शरीर का क्षय हो जाने से दूसरी पर्याय में जो दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है उसे जीवों का शरीर जन्य जानना चाहिए। इसी प्रकार संस्कार योग से जिसे पुनः आत्मलाभ प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष को जो द्विजपने की प्राप्ति होना है वह संस्कारज अर्थात् संस्कार से उत्पन्न हुआ जन्म कहलाता है। अपनी आयु के अन्त में शरीर का परित्याग करना संस्कारमरण है। इस प्रकार जिसे सब संस्कार प्राप्त हुए है जो ऐसा जीव मिथ्यादर्शनादिरूप पहले के पर्याय को छोड़

देता है इसलिए वह एक तरह से मरा हुआ ही कहलाता है। उन दोनों जन्मों में से जो पाप से दूषित नहीं है ऐसा संस्कार से उत्पन्न हुआ वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ सद्‌गृहित्व अवस्था को पाकर सद्‌गृहस्थ होता है। उत्तम क्रियाओं के करने योग्य ब्राह्मणों ने उनके जातिवाद का अहंकार दूर करने के लिए आगे वर्णन किया है।

जो ब्रह्मा की सन्तान हैं, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं और स्वयम्भू भगवान परमेष्ठी तथा जिनेन्द्र देव ब्रह्मा कहलाते है। इसका भाव यह है कि जो जिनेन्द्र भगवान का उपदेश सुनकर उनकी शिष्य परम्परा में प्रविष्ट है वे ब्राह्मण कहलाते हैं। श्री जिनेन्द्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा हैं, क्योंकि वे ही गुणों के बढ़ाने वाले हैं और उत्कृष्ट ब्रह्म अर्थात् ज्ञान भी उन्हीं के अधीन है, ऐसा मुनीश्वर कहते हैं।

जो मृगचर्म धारण करता है, जटा, दाढ़ी आदि चिह्नों से युक्त है तथा काम के वश अंधा होकर जो ब्रह्मतेज अर्थात् ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हुआ वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता। इसलिए जिन्होंने दिव्य मूर्ति के धारक श्री जिनेन्द्रदेव के निर्मल ज्ञान रूपी गर्भ से जन्म प्राप्त किया है, वे ही द्विज कहलाते है। व्रत मन्त्र तथा संस्कारों से जिन्हें गौरव प्राप्त हुआ है, ऐसे इन उत्तम द्विजों को वर्णों के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए अर्थात् ये वर्णोत्तम है। जो क्षमा और शौच गुण को धारण करने में सदा तत्पर हैं सन्तुष्ट रहते हैं, जिन्हें विशेषता प्राप्त हुई है और निर्दोष आचरण ही जिनका आभूषण है, ऐसे उन द्विजों को सब वर्णों में उत्तम मानते हैं। इनके सिवाय जो मलिन आचार के धारक हैं, अपने को झूठमूठ द्विज मानते हैं, पाप का आरम्भ करने में सदा तत्पर रहते हैं और हठपूर्वक पशुओं का घात करते हैं वे ब्राह्मण नहीं हो सकते। उत्तराध्ययन में भी लिखा है-

न वि मुण्डिएण समणो, ओंकारेण न बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण तापसी।।

समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो।
णाणेण उ मुणी होइ तवेण होइ तावसी।।

अर्थात् केवल मुण्डने से श्रमण, ओंकार के जप से ब्राह्मण, अरण्य से मुनि और कुश-चीवर धारण से तपस्वी नहीं होता प्रत्युत समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि तथा तपाराधना से तपस्वी होता है।

द्विज लोगों की शुद्धि श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मन्त्र और क्रियाओं के आश्रित है तथा देवताओं के चिह्न धारण करने और काम का नाश करने से भी होती है। जो श्रुति, स्मृति आदि के द्वारा की हुई अत्यन्त विशुद्ध वृत्ति को धारण करते है उन्हें शुक्ल वर्ग अर्थात् पुण्यवानों के समूह में समझना चाहिए। जो इनसे शेष बचते हैं उन्हें शुद्धि से बाहर समझना चाहिए अर्थात् वे महा अशुद्ध हैं। उनकी अशुद्धि न्याय अन्यायरूप प्रवृत्ति से जाननी चाहिए। शुद्धि दया से कोमल परिणाम होना न्याय है और प्राणियों का मारना अन्याय है। इससे यह बात निश्चित हो चुकी कि विशुद्ध वृत्ति को धारण करने वाले जैन लोग ही सब वर्णों में उत्तम हैं। वे ही द्विज हैं। ये ब्राह्मण आदि वर्णों के अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम है और जगत्पूज्य हैं।

किसी एक दिन सभा के बीच में सिंहासन पर बैठे हुए भरत एकत्रित हुए राजाओं के प्रति क्षात्रधर्म का उपदेश देते हुए कहने लगे कि हे समस्त क्षत्रियों में श्रेष्ठ महात्माओं! आप लोगों को आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेव ने दुःखी प्रजा की रक्षा करने में नियुक्त किया है। दुःखी प्रजा की रक्षा करने में नियुक्त हुए आप लोगों का धर्म पांच प्रकार का कहा है। उसे सुनकर तुम लोग शास्त्र के अनुसार प्रजा का हित करने में प्रवृत्त होओ। वह तुम्हारा कुल का पालन करना, बुद्धि का पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजा की रक्षा करना, और समंजसपना इस प्रकार पांच भेद वाला कहा गया है। उनमें से अपने कुलाम्नाय की

रक्षा करना और कुल के योग्य आचरण की रक्षा करना कुल-पालन कहलाता है। आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेव ने क्षत्रपूर्वक ही इस सृष्टि की रचना की है अर्थात् सबसे पहले क्षत्रिय कहते हैं। तथापि यह वंश अनादिकाल की संतति से बीज वृक्ष के समान अनादिकाल का है तथापि विशेषता इतनी है कि क्षेत्र और काल की अपेक्षा से उसकी सृष्टि होती है तथा प्रजा के लिए न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही उनका योग्य आचरण है। धर्म का उल्लंघन न कर धन कमाना, रक्षा करना, बढ़ाना और योग्य पात्र में दान देना ही उन क्षत्रियों का न्याय कहलाता है। क्षत्रिय पद की प्राप्ति रत्नत्रय के प्रताप से ही होती है। यही कारण है कि क्षत्रिय लोग अयोनिज अर्थात् बिना योनि के उत्पन्न हुए कहलाते हैं।

इस प्रकार जैन परम्परा में जन्मना वर्ण का विभाजन न होकर कर्म के आधार पर बताया गया है।

रीडर-जैन बौद्ध दर्शन
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ॰प्र॰)

मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ।।
ब्राह्मणाः व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शास्त्रधारणात्।
वाणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।।

– आदिपुराण, 38/45-46

यद्यपि जाति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है, तथापि आजीविका के भेद से होने वाले भेद के कारण वह चार प्रकार की हो गई है। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और नीच वृत्ति का आश्रय लेने से मनुष्य शूद्र कहलाते हैं।

अहिंसा और अपरिग्रह की प्रासंगिकता

– नीरज जैन

मानव-धर्म की परिभाषा यदि एक ही शब्द में करने की आवश्यकता पड़े तो उसके लिये अहिंसा के अतिरिक्त शायद कोई दूसरा शब्द दुनिया के किसी शब्दकोश में मिलने वाला नहीं है। अहिंसा संसार के सभी धर्मों का मूल तत्व है। अहिंसा किसी मन्दिर में, या किसी तीर्थ-स्थान पर जाकर, सुबह-शाम सम्पन्न किया जाने वाला कोई अनुष्ठान नहीं है। वह आठों याम चरितार्थ किया जाने वाला एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है। अहिंसा में ऐसी सामर्थ्य है कि वह घृणा-विद्वेष और मान की चट्टान पर प्रेम और सहिष्णुता के अंकुर उपजा सकती है। अहिंसा में यह चमत्कारिक शक्ति है, जो विषमता से दहकते चित्त में समता और शान्ति के फूल खिला सकती है।

अहिंसा से व्यक्ति का जीवन निष्पाप बनता है और प्राणी-मात्र को अभय का आश्वासन मिलता है। इस व्यवस्था से प्रकृति का संतुलन बनाये रखने में सहायता मिलती है और पर्यावरण को संरक्षण मिलता है। इसीलिये तो संतों ने मनुष्य के संयत आचरण को जीव-मात्र के लिये कल्याणकारी कहा है।

इस विधान से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं है। जीवन से पलायन भी अहिंसा का उद्देश्य नहीं है। अहिंसा जीवन को व्यावहारिक बनाती है तथा धर्म और कर्तव्य के बीच संतुलन बनाते हुए अपने लिये और सबके लिये हितकारी चिन्तन को जन्म देती है। अहिंसा मनुष्य के जीवन में मानवता की प्रतिष्ठा का एक मात्र और आसान उपाय है।

अहिंसा मानसिक पवित्रता का नाम है। उसके व्यापक क्षेत्र में सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी सद्गुण समा जाते हैं,

इसलिए अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। संसार में जल-थल और आकाश में सर्वत्र सूक्ष्म-जीव भरे हुये हैं, इसलिए बाह्य आचरण में पूर्ण अहिंसक होना सम्भव नहीं है, परन्तु यदि अन्तरंग में समता हो और बाहर की प्रवृत्तियाँ यत्नाचार पूर्वक नियंत्रित कर ली जायें, तो बाह्य में सूक्ष्म जीवों का अपरिहार्य घात होते हुये भी, साधक अपनी आन्तरिक पवित्रता के बल पर अहिंसक बना रह सकता है।

क्रोध-मान-माया-लोभ की भावना को मर्यादित करने वाले पवित्र विचार और सद्-संकल्प ही अहिंसा के सुफल हैं। अहिंसा का क्षेत्र संकुचित नहीं है, उसका प्रभाव भीतर और बाहर दोनों ओर होता है। दार्शनिक परिभाषा में 'चित्त का स्थिर बने रहना अहिंसा है' या 'जीव का अपने साम्य-भाव में संलग्न रहना अहिंसा है'। अंतरंग में ऐसी आंशिक समता के बिना अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती।

अपरिग्रह

प्रायः सभी धर्मों की आचार-संहिताओं में परिग्रह-लिप्सा को सभी पापों की जड़ बताया गया है। एक महान जैन आचार्य ने परिग्रह की विस्तृत परिभाषा करते हुए लिखा है- 'मनुष्य परिग्रह के लिये ही हिंसा करता है। उसी के निमित्त ही झूठ बोलता है और उसी अभिप्राय से चोरी के कार्य करता है। कुशील भी व्यक्ति के जीवन में परिग्रह की लिप्सा के माध्यम से ही आता है। इस प्रकार परिग्रह-लिप्सा आज के अर्थ-प्रधान युग का सबसे बड़ा पाप है। उसी के माध्यम से हिंसा-झूठ-चोरी और कुशील आदि सारे पाप हमारे जीवन में प्रवेश पा रहे हैं। लिप्सा ही वह छिद्र है जिसमें से होकर हमारे व्यक्तित्व के प्रसाद में निरन्तर पाप का रिसाव हो रहा है-

संग णिमित्तं मारइ, भणई अलीकं, करेज्ज चोरिक्कं,
सेवइ मेहुण मिच्छं, अपरिमाणं कुणइ पावं।

– समणसुत्तं

सुख का मूल : संतोष

कहा जाता है पहले कभी सतयुग में सब के आंगन में कल्प-वृक्ष हुआ करते थे। जीवन की सभी आवश्यक वस्तुएं, उन कल्प-वृक्षों से प्राप्त हो जाती थीं। शायद वह तब की बात होगी जब मनुष्य को संग्रह का रोग नहीं था। उसका परिवार और उसकी आवश्यकताएं सीमित थीं और वह अपने वर्तमान में जीना पसन्द करता था। समाज में छीना-झपटी और संचय की होड़ नहीं थी।

आज परिस्थितियाँ कुछ अलग प्रकार की हैं। सादगी का सौन्दर्य और संतोष की सुगन्ध हमारे जीवन में कहीं दिखाई नहीं देती। व्यय का आय के साथ कोई संतुलन नहीं है। हमारी असीम-आकाँक्षाओं से डर कर ही शायद कल्प-वृक्ष कहीं छिप गये हैं। वे लुप्त नहीं हुए। आज भी यदि संचय की तृषा न हो, और आकाँक्षाएं सीमित हों, हर परिवार अपनी आय के अनुसार व्यय का बजट बनाना और उसके अनुसार ही संतोष पूर्वक जीना सीख ले तो आज भी हर ऑगन में कल्प-वृक्ष उगाये जा सकते हैं।

क्या दिया है परिग्रह ने?

लालसा से भरा हमारा मन जहॉ तक जाता है, वहॉ तक जो भी हमें दिखाई देता है, वह सब हमारा परिग्रह है। यह मन की लालसा चित्त को व्यामोह की कुंडली में कस लेती है। आचार्यों ने लालसा की इसी वृत्ति को 'मूर्च्छा' कहा है। जिसके मन में पर पदार्थ के प्रति गहरी लालसा है, मूर्च्छा-भाव है, सारा संसार उसका परिग्रह है। जिसके मन में यह मूर्च्छा-भाव निकल गया है, संसार में रहते हुये भी, संसार उसका परिग्रह नहीं है-

मूर्च्छाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रहः,
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवाऽपरिग्रहः।

आज परिग्रह की मूर्च्छा में से उपजा असंतोष मनुष्य को अनेक वर्जित दिशाओं में ले जा रहा है। कामनाओं से तृषित पत्नी अपने पति से संतुष्ट नहीं है। धन के मद से नित-नई चाह वाला पति अपनी पत्नी में नवीनता नहीं देख पाता, उसकी दृष्टि कहीं अन्यत्र है। जहाँ दैहिक अनाचार के अवसर नहीं हैं, वहाँ भी मानसिक अनाचार निरंतर चल रहा है। तनावों में कसा हुआ जीवन नरक बन रहा है। जिसे जो मिला है, वह उसे संतुष्ट नहीं कर पा रहा। उसे और अधिक चाहिये या फिर स्वाद बदलने के लिये दूसरा चाहिये, जस्ट फार ए चेंज।

लोभ और तृष्णा इसी तरह राजा को रंक और भिखारी बना देती है। जो आशा और तृष्णा के गुलाम हो गये, वे सारी दुनिया के गुलाम हो जाते हैं, परन्तु आशा को जिन्होंने वश में कर लिया, सारा संसार उनके वश में हो जाता है। वे लोक-विजयी होकर मानवता के मार्ग-दर्शक बन जाते हैं। यही बात एक नीतिकार ने कही-

आशाया ये दासाः, ते दासा सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी, तेषां दासायते लोकः।।

इस आशा दासी का गणित विचित्र है। जब तक इसको मनोवाँछित मिलता नहीं तब तक इसका शिकार लोभ की दाह में दग्ध होता रहता है, और संयोग से कभी चाह पूरी हो गई तो उसी अनुपात में हमारी आशा का कद बढ़ता जाता है तथा जो मिला है उससे चिपटे रहने की तृष्णा हमें अपने पाश में जकड़ लेती है। हर हाल में आशा के चक्कर में पड़ कर हम सदा अतृप्त और दुःखी ही बने रहते हैं। महाकवि भूधरदासजी ने ठीक ही कहा था-

ज्यों-ज्यों भोग सँजोग मनोहर मन-वाँछित जन पावै,
तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंकै, लहर जहर की आवै।

जार्ज बर्नार्ड शॉ ने एक जगह लिखा है- 'हमारे जीवन में दो दुखद घटनाएँ घटती हैं। पहली यह कि हमें अपनी मनचाही वस्तुएं मिलती

नहीं हैं। दूसरी यह कि वे हमें मिल जाती हैं।'

> There are two tragedies in life.
> One is not to get your heart's desire.
> The other is to get it.
>
> –George Bernard Shaw

बात खोने की हो या पाने की इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता। दोनों की परिस्थितियों में मनुष्य के मन में संक्लेश ही उपजते हैं। उन्हीं संक्लेशों की पीड़ा उसे भोगना पड़ती है। वह जितना सम्पत्तिशाली होता जाता है, उसकी पीड़ा उसी अनुपात में बढ़ती जाती है।

मनुष्य प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है परन्तु उसके साथ एक अभिशाप भी लगा है। सृष्टि के समस्त प्राणी जिस रूप में जन्मते हैं, मरने तक उसी रूप में बने रहते हैं, पर मनुष्य के साथ ऐसा नहीं है। नारी की कोख से जन्म लेकर भी उसका जीवन भर मनुष्य बने रहना निश्चित नहीं है। मनुष्य यदि अधर्म और पाप के मार्ग पर कदम बढ़ा ले तो इसी चोले में रहते हुए उसे दानव या पशु बनते देर नहीं लगती। दूसरी ओर यदि वह सम्यक् पुरुषार्थ करके अपनी मनुष्यता को सुरक्षित बनाये रख सके तो उसके लिये नर से नारायण बनने की राह पर चलने की सम्भावना बन जाती है। यदि मनुष्य को मनुष्यता का गौरव लेकर जीना है तो उसे जीवन भर एक साधना करनी पड़ेगी, उस साधना का नाम है 'अहिंसा'। हिंसक मनुष्य का आजीवन मनुष्य बने रहना निश्चित नहीं होता। हिंसक जीवन-पद्धति अपना लेने पर मनुष्य के पतन की ही अधिक सम्भावना बन जाती है।

आज दुनिया में आतंकवाद, लूटमार और अराजकता का जो नंगा नाच हो रहा है उसका मूल कारण यही है कि कुछ अविवेकी जनों ने संसार को अपने आधीन करने की अमर्यादित आकाँक्षा अपने मन में उत्पन्न कर ली है और उसकी पूर्ति के लिये अपरिमित हिंसा का रास्ता अपना लिया है। उनके भीतर सुलगती वासना और हिंसा की ज्वालाओं

में आज पूरी मानवता झुलस रही है। क्या ईश्वर हमें वह बुद्धि देगा जिसके बल पर आज का मनुष्य अहिंसा को उसके सही अर्थों में पहिचाने और उसे अपने जीवन में उतारने का संकल्प लेकर संसार के प्राणी मात्र को अभय का आश्वासन दे सके?

वर्तमान में हमारे सामने ऐसा विश्वास करने के सबल कारण उपस्थित हैं कि अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्त आज जितने प्रासंगिक हैं उतने हमारे पूर्वजों के युग में कभी नहीं रहे।

शान्ति सदन, कम्पनी बाग,
सतना म.प्र. 485001

श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशांगमकल्मषम्।
हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक्।।
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद् वधनिषेधि यत्।
वधोपदेशी यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम्।।

– आदिपुराण, 38/22-23

जिसके बारह अंग हैं, जो निर्दोष है और जिसमें श्रेष्ठ आचरणों का विधान है ऐसा शास्त्र ही वेद कहलाता है। जो हिंसा का उपदेश देने वाला वाक्य है, उसे तो यमराज का वाक्य ही समझना चाहिए। पुराण और धर्मशास्त्र भी वही हो सकता है, जो हिंसा का निषेध करने वाला है। इसके विपरीत जो हिंसा का उपदेश देते हैं, उन्होंने धूर्तों का बनाया हुआ समझना चाहिए।

मनराम कृत बारहखड़ी काव्य 'गुरु अक्षरमाला'

–डॉ. गंगाराम गर्ग

हिन्दी और राजस्थानी के जैन साहित्य में 'रासो' 'लूहरि' 'बारहखड़ी' अथवा 'बावनी', बारहमासा आदि अनेक काव्य रूपों के प्रयोग की परम्परा रही। इनमें 'रासो' के समान बारहखड़ी या 'बावनी' भी प्राचीनतम काव्यरूप है। 'ककहरा' और 'अखरावट' आदि इस काव्य रूप के अमर नाम भी जैनेतर काव्य परम्परा में प्राप्त हैं। बारहखड़ी अथवा 'बावनी' संज्ञक काव्यों में प्रत्येक स्वर और व्यंजन तथा कभी व्यंजन के साथ सभी स्वर रूपों के प्रयोग के साथ एक-एक छंद की रचना होती है। श्वेताम्बर जैन परम्परा में हीरानंद (सं. 1648-68) कृत 'अध्यात्म बावनी', लालचंद (रचनाकाल 1672-1695 वि.) कृत 'वैराग्य बावनी' हंसराज कृत 'ज्ञान बावनी,' धर्मवर्द्धन (1700-1783 वि.) कृत 'धर्म बावनी' जिनहर्ष द्वारा संवत् 1738 वि. में लिखित जसराज बावनी और केशवदास द्वारा संवत् 1736 में लिखित 'केशवदास बावनी' अधिक चर्चित रही। दिगम्बर जैन परम्परा में पं. दौलतराम कासलीवाल और चेतनकवि कृत दो अध्यात्म बारहखड़ी कृतियां पूर्ण बारहखड़ी काव्य हैं।

डॉ. कामता प्रसाद जैन ने जैन साहित्य का इतिहास पुस्तक में 437 छंद की इस वृति को उपदेश पूर्ण और उतम काव्य रहा है।

महयन्दिरा कृत दोहा पाहुड़ (सं. 1250 वि.) प्राचीनतम बारहखड़ी रचना है। हर्षकीर्ति कृत 'कंको' सूरति कृत 'अध्यात्म बारहखड़ी' और गुरु अक्षरमाला के नाम से लिखित मनराम की रचना अप्रकाशित बारहखड़ी काव्य है। बारहखड़ी काव्यों के प्रतिपाद्य 'अध्यात्म' और 'नीतितत्व' का उल्लेख ही मनगम के काव्य में हुआ है। मनराम ने अपनी रचना में कर्म की प्रबलता और काल की भयावहता का भय

दिखलाते हुए आत्म चिन्तन की ओर प्रेरित किया और गर्व, कुसंग, इन्द्रिय-विषय, तृष्णा, कुसंग के त्याग तथा क्षमा, सत्य सदगुरु सेवा को ग्राह्य बतलाया। अनुप्रास, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, दृष्टान्त आदि अलंकारों से अलंकृत माधुर्यपूर्ण भाषा-प्रयोग रचना की कलात्मक विशेषता है। मूल रचना इस प्रकार है–

परम पुरुष प्रणमूं प्रथम, श्री गुरु गुन आराधि।
परम धरम मारग लहै, हौहिं सिद्धि सब साधि।।1।।
मन वच क्रम करि जोरि कैं, वंदौ सारद माय
गुन अक्षरमाला कहूं, सुनत चतुर सुख पाय।।2।।
ओंकार अपार है, ओं सिद्ध सरूप
ओं मारग मुकति कौ, **ओं** अमृत कूप।।3।।
ई ई ईश्वर ईस करि, ईहा सबै निवारि
ए ए एक अनेक मैं, वहि इक मांहि अनेक
सुमिरहु किन वहि एक कौ, तजि मन की सब टेक।।4।।
अ आ अचंभो एक जिय, आवत है मो नित्त
अमर नहीं जग असारहु, क्यौं सुख सोवे नित्त।।5।।
श्री श्री श्री शिव सदन की, चाहत मन वच काय
धंध जाल पर त्यागि सब, निज आतम मन लाय।।6।।
क का काहु पुन्य फल, पाई मनिषा देह
करि कारज कछु धरम कौ, नर भव लाहौ लेह।।7।।
ख खा खोटी बुद्धि तजि, खोटो संग निवारि
खरचि सुभाग्ग संपदा, षटिसु जस समार,।।8।।
ग गा गरव न कीजियै, गहौ सुमारिग चाल
गाफिल हुवा जिनि रहौ, गरजति सिर पर काल।।9।।
घघा घट वधि करम है, घटि वधि जीव न कोइ
जो घटि सो बढ़ि छिनक मैं, जो बढ़ि सो घटि होइ।।10।।
नन्ना निरखि सुसंपदा, निरषि निरंजन देव

निरखि सुगुरु निरगंथ जो, निरखि दया ध्रम भेव।।11।।
च च्चा चंचलता तजौ, चंचलता दुख होइ।
जो चित कूं चंचल करै, चतुर न कहिए सोइ।।12।।
छ छा छिन छिन छिन छवि, छिन छिन जरा दबाब।
छिमा गहौ छोभहिं तजौ, छिन छिन आयु घटाय।।13।।
ज जा जोबन जाय सब, सकति न रहत सरीर
जोग करहु सुभ योग कूं, जोग बन्यौ है वीर।।14।।
झ झा झूंठ न बोलि झूंठ अजस अधिकाय।
झूंठ मूल है पाप कौ, झूंठ कुगति ले जाय।।15।।
न न्ना नेह न कीजिए, इनि इंद्रिनि सैं जोरि।
मूढ़ि ठगोरी मेल्हि कै, लेहि रतनत्रय चोरि।।16।।
ट टा टंटा सौं बनिज, तजि करि सदगुरु साह।
टो टौ माजै पाछिलौ, होहि अयूरब लाह।।17।।
ठ ठा ठाकुर त्यागि, जो नहिं वचन कौ ठीक।
सेइ सुपद सरबग्य जिहिं, कह्यो सुपछर लीक।।18।।
ड डा डरयां न छूटियें, वैरी करम बलिष्ट।
जीत्यौ चाहै चतुर मति, करि करुणा मय इष्ट।।19।।
ढ ढ़ा ढूंढै दूरि कित, ढूंढिसू निजि घट माहि।
तू ही ग्याता ग्यान तू, दूजौ कोऊ नाहि।20।।
गणां रावन राम से, दल बल विभौ अपार।
तेऊं भए जु काल बसि, जात न लागी बार।21।।
त ता तिसना बुद्धि तजि, तरणी संग निवारी
चाहत जौ निर्भय भयौ, आतम तत्व विचारि।22।।
थ था थो थौ पीजरौ, अशुचि रोग कौ थांन।
या मैं थिर कहि को रह्यौ, थो थो न करि गुमांन।23।।
द दा दांन दया बिनां, द्रव्य जांनि सव खेह।
देह देह कत करत है, देह देह करि देहा।24।।
ध द्धा धन घर महि गड्या, धरमहि खरच्यां नांहि।

ते नर मध्यका जीव सब, समैं गये पछिता हिं।26।।
न न्ना नगर न जीव कैं, नहीं जीव के दाभ।
तात मात सुत कामिनी, नहीं जीव के धाम।27।।
प पा पर उपगार करि, पर की पीर निहारि।
परमारथ पंथ पाव धरि, निज पर लोक सुधार।28।।
फ फा फूल्यौ कत फिरे, फीटी संपति पाय।
बिना जतन ही आव ही, जतन करंती जाय।
ब ब्बा वैरी जीव कै, विषै समान न कोइ।
अजस सुजस इह भव प्रगट, आगैं दुरगति होइ।30।।
भ भा भूल्यौ भरम मैं, भरम्यौ तू चित काल।
भीज्यो रस कामिनि कनक, भजो न दीनदयाल।31।।
म म्मां मान सुमति करै, मान सुमति कौ नांस।
मान मूल दुख दुरम कौ, मांन कुमति कौ बास।
य या जिय के जीव सम, हितु न दूजौ कोइ।
या तैं पर सौं प्रीति तज, आय आय कौं जोइ।33।।
र रा रंक राजा कहा, दोऊ एक निदानि।
षांन पहरनै भेद पै, काल गाल मैं जांनि।34।।
लल्ला लोभ निवारिये, लोभ अजस कौ कंद।
लोभ सुजस धन पवन है, लोभ कुगति कौ फंद।35।।
व(वा वा मेरी बसत, वा कीनी वा नाहि।
वा करिहौं करिहौं नवा, वादि वह्यो जग मांहि।36।।
स स्सा समिकित बाहरौ, मिथ्या जप तप दांन।
सांच बिनां न मंत्र फुरै, कोटि करै जो आंन।37।।
हा हा हासी जिनि करौ, करि करि हासी आंन।
हीरौ जनम न हार तू, विनां भजन भगवांन।38।।
निज कारन उपदेस मैं, कीयो बुधि अनुसारि।
कवि जन दुख न जिनि धरौ, लीज्यौ अबै सुधारि।39।।

पढ़ै सुणै अर सरदहैं, मन बच क्रम जो याहि।
निति गहैं अति सुख लहै, दुख न व्यापै ताहि।40।।
इहि विनती 'मनरांम' की तुम गुण सकल निधान।
संत सहज अवगुन तजैं, करै सुगुन परवांन।
(इति श्री गुरु अक्षरमाला सम्पूर्ण)

खेह, थोथौ, टोटौ, ठगोरी आदि ब्रजभाषा शब्दावली एवं 'संपदा' चंचलता, कामिनी, कनक आदि तत्सम शब्दों के प्रयोग के कारण, राजस्थानी भाषा के शब्दों के पूर्ण परिहार के कारण कविवर मनराम पूर्वी राजस्थान के निवासी प्रमाणित होते हैं। इनके कुछ फुटकर पद भी प्राप्त हैं। 'मनराम विलास' के नाम से कवि के रचना संग्रह का उल्लेख भी मिलता है।

110-A, रणजीतनगर
भरतपुर
321001

यथा राजा तथा प्रजा

धर्मशीले महीपाले याति तच्छीलतां प्रजाः।
अताच्छील्यमतच्छीले यथा राजा तथा प्रजाः।।

– आदिपुराण, 41/87

यदि राजा धर्मात्मा होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा होती है और राजा धर्मात्मा नहीं होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा नहीं होता है। यह नियम है कि जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा होती है।

भाषा-विकास एवं अपभ्रंश

—सूरजमल राव

भाषा, मनुष्य की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं व्यापक वाचिक माध्यम माना गया है। वाचिक माध्यम का तात्पर्य है—वाणी में सहायक माध्यम। वाणी वक्ता के मुह से ध्वनियों के रूप में व्यक्त होती है। परन्तु जो ध्वनियों के रूप में अभिव्यक्त नहीं हो कर वक्ता के मानस में घुमड़ती रहे, वह भी भाषा ही मानी जाती है। भाषा एक वाचिक व्यवस्था है, जो मौन में मानसिक एवं व्यक्त होने पर ध्वनि रूप धारण करती है। यह सामाजिक सम्पर्क में अनिवार्य एक वैयक्तिक कर्म है।

मानव-जीवन में भाषा का महत्त्व सर्वविदित है क्योंकि सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार भाषा के माध्यम से सम्पन्न होते हैं। मनुष्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है। मानव चाहे जिस देश, जाति या वर्ग का हो, सभ्य-शिष्ट या असभ्य-अशिष्ट, ग्राम्य हो या नागरिक-मनुष्य मात्र द्वारा प्रयुक्त व्यक्त वाक् को भाषा कहा जाता है। चाहे उसमें ध्वनियों शब्दों, वाक्यों या अर्थो की कितनी भी विभिन्नता क्यों न हो। हां, पशु-पक्षियों की ध्वनियां तथा इंगित और चेष्टादि द्वारा की गयी अभिव्यक्ति इसके अन्तर्गत नहीं आती है।

भाषा शब्द सस्कृत की "भाष्" धातु से बना है, जिसका प्रयोग व्यक्त वाणी (व्यक्तायां वाचि) के लिए किया जाता है। पशु-पक्षियों की बोली तथा मानवकृत इंगितों व संकेतों की भाषा वस्तुतः भाषा कहलाने की अधिकारिणी नहीं है, क्योंकि वह "अव्यक्त वाक्" है। मनुष्य द्वारा वाणी से उच्चारित, ध्वनि-संकेतों से गठित, शब्दमयी भाषा ही वस्तुतः भाषा हैं क्योंकि उसमें स्पष्टता, असंदिग्धता तथा सुगमता है।[1]

वर्तमान में जिस शास्त्रीय विधा में भाषा का अध्ययन किया जाता

है उसे भाषाविज्ञान कहते है। यह शब्द दो शब्दों के संयोग से बना है– भाषा एव विज्ञान। जहां भाषा मानव-विकास में सहायक रही हैं, हमारे पूर्व पुरुषों के सारे अनुभव हमें भाषा के माध्यम से प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार "विभिन्न अर्थों में सांकेतिक शब्द समूह ही भाषा है, जिसके द्वारा हम अपने मनोभाव दूसरों के प्रति सरलता से प्रकट करते हैं।" विज्ञान शब्द का अर्थ है- विशिष्ट ज्ञान। अर्थात् किसी वस्तु का विशेष ज्ञान। ज्ञान एवं विज्ञान में भी अंतर है किसी वस्तु का प्रथम दृष्टि में ज्ञान होना ज्ञान है और किसी वस्तु के बारे में सम्पूर्ण जानकारी विज्ञान कहलाता है। इस प्रकार जिस शास्त्र विधा में भाषा का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है वह शास्त्र भाषा-विज्ञान कहलाता है। इस प्रकार भाषा विज्ञान उस विज्ञान को कहते है, जिसमें मानवप्रयुक्त व्यक्त वाक् का पूर्णतया वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

भाषा विज्ञान की दृष्टि में भाषा के संदर्भ में कहा गया है कि जिन यादृच्छिक तथा विभिन्न अर्थों में रूढ ध्वनि-संकेतों के द्वारा मनुष्य अपने भाव-विचार को अभिव्यक्त करता है, उन्हे भाषा कहते है।[2]

An Introduction to Camparative Philology मे भाषा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि language in its widest sense means the sum total of such signs of our thoughts and feelings as are capable of external perception and as could be produced and repeated at will अर्थात्-अपने व्यापक रूप में भाषा का अर्थ है-हमारे विचारों और मनोभावों को व्यक्त करने वाले ऐसे संकेतो का कुल योग, जो देखे या सुने जा सकें और इच्छानुसार उत्पन्न किये एवं दोहराए जा सके।

Speech and language में A.H. Gaediner भाषा को परिभाषित करते हुए लिखते है। The common definition of speech is the use of artiecelate sound symbols for the expression of thought श्याम सुन्दर कृत अनुवाद अनुसार विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों के व्यवहार को भाषा कहते है।[5]

हमारे आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में भाषा की दिव्योत्पत्ति का सिद्धान्त दर्शाया गया है और कहा गया है जिस प्रकार परमात्मा ने मानव सृष्टि की सृजना की, उसी प्रकार मानव के लिए एक परिष्कृत भाषा भी दी। इस मत में प्रत्येक कार्य के मूल में दैवी शक्ति की सत्ता मानी जाती है।[6]

शब्दकल्पद्रुम में भाषा उसे माना गया है, जिसका प्रयोग शास्त्र एवं व्यवहार के लिए होता है।[7] न्यायकोशकार ने भाषा को सीमित स्वरूप में परिभाषित करते हुए न्याय[8] के शपथ सूचक वाक्यों को भाषा माना है। वहीं जैनाचार्यों ने आचारशास्त्र की दृष्टि से शुद्धता, बोधगम्यता संक्षिप्तता,मधुरता आदि का निर्वाह जहां होता है, उसी को भाषा माना है।[9] परन्तु यह दृष्टि भाषा विज्ञान से भिन्न है। संस्कृत-हिन्दी शब्द कोशकार वामन शिवराम आप्टे ने किसी जन समुदाय द्वारा अपने भावों एवं विचारों को व्यक्त करने के लिए मुह से उच्चारण किए जाने वाले शब्दों एवं वाक्यों के समूह को भाषा माना है।[10]

भाषा का अर्थ है-स्पष्ट वाणी। स्पष्ट वाणी से तात्पर्य उस ध्वनि से है, जो उच्चारण अवयवों द्वारा साफ-साफ उच्चारित हो, साथ ही साथ अर्थपूर्ण भी हो, दूसरे शब्दों में अर्थयुक्त समास उच्चरित ध्वनियों की संज्ञा ही भाषा है। इससे स्पष्ट होता है कि भाषा का प्रयोक्ता मनुष्य ही होता है क्योंकि अन्य जीवों में यह क्षमता नहीं होती। इसी कारण इनको भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं किया गया है।[11]

महान् भाषा शास्त्री पाणिनी ने 'व्यक्तायां वाचि' शब्द का ही प्रयोग करते हुए व्यक्त का अभिप्राय स्पष्ट बोलना लगाया हैं और इसी कारण व्यक्त वाणी को "मनुष्य की वाणी" तथा मानव-समाज तक ही सीमित रखा गया है।[12]

भारतीय आर्य भाषाओं का विधिवत् इतिहास तो हमें प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं है, तथापि इसकी साधारण रूपरेखा ऋग्वेद से आज तक उपलब्ध है। कुछ विद्वानों ने अनार्य भाषाओं को छोड़कर संसार भर

की परिष्कृत भाषाओं का उद्गम वैदिकभाषा को माना है।

कुछ विद्वानों ने भारतीय-यूरोपीय भाषाओं की मूल भाषा के रूप में उर्सप्राख (Ursparache) नामक एक भाषा की कल्पना की है।

भारत-यूरोपीय (भारोपीय) भाषा-परिवार से आशय उन समस्त भाषाओं से है, जो उस प्रचीन भारत-यूरोपीय मूल भाषा से निकली है। भारत यूरोपीय शब्द से यही अभिप्राय है कि इस भाषा परिवार के भारत से लेकर यूरोप तक के भौगोलिक विस्तार की ओर ध्यान दिया जा सके-इस परिवार के नाम के सम्बन्ध में बहुत विवाद रहा हैं तथा समय-समय पर अनेक नाम सामने आये हैं जैसे-इण्डो-केल्टिक, संस्कृत, जेफाइट, या जफेटिक, काकेशियन, आर्य, इण्डो-योरोपियन, (भारोपीय) विरोस, इण्डो-हित्ताइत, भारोपिय-एनाटोलियन आदि-आदि।[13]

The origin and development of the bengali language में डा. सुनीति कुमार चटर्जी ने जो भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण किया वह उल्लेखनीय है। जिसमें संस्कृत भाषा को सभी भाषाओं का स्रोत माना गया है।[14]

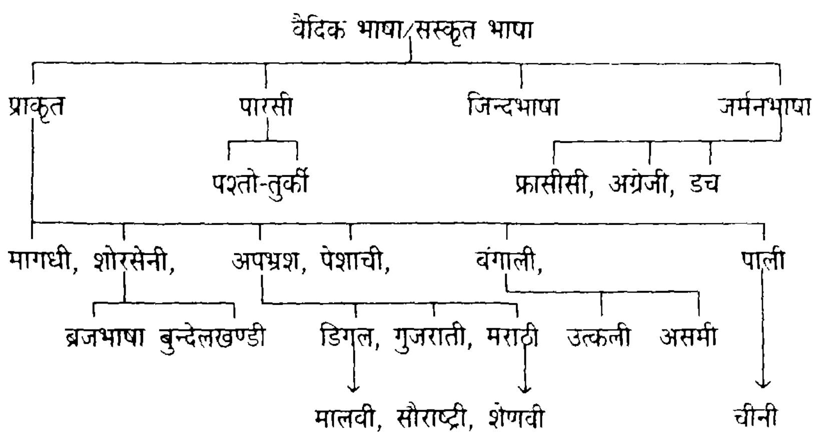

भारतीय आर्य भाषा को विकास-क्रम की दृष्टि से तीन युगों मे विभक्त किया जा सकता है।

प्रथम- प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल

द्वितीय- मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल

तृतीय- आधुनिक आर्य भाषा काल

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का स्वरूप हमें वैदिक छान्दस भाषा में मिलता है। मध्यकालीन आर्य भाषा का स्वरूप हमें प्राकृत परिवार में मिलता है। इसका विकास ईसा पूर्व 600 से 1000 वर्ष तक माना जाता है। पाली एवं अपभ्रंश भी प्राकृत भाषा परिवार के अन्तर्गत आती है परन्तु इनकी अपनी स्वतंत्र इकाई होने के कारण प्राकृत से पृथक् भी माना जाता है। हिन्दी आदि सभी आधुनिक भाषाओं का विकास-प्राकृत-अपभ्रंश एवं अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं का विकास माना गया है। प्राकृत प्रकाश की प्रस्तावना में संस्कृत एवं प्राकृत के संदर्भ में डा. मण्डन मिश्र ने लिखा है- "प्राकृत एवं संस्कृत की प्राचीनता के विषय में अलग-अलग तरह की व्याख्याएं विभिन्न समीक्षक अपने-अपने दृष्टिकोण से करते आये है।" इस विवाद अथवा तर्क-वितर्क से ऊपर उठकर इतना कहना पर्याप्त होगा कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए संस्कृत-नाटकों में प्राकृत को स्त्री पात्र की भाषा के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसका मूल कारण इस भाषा की मधुरिमा, इसके शब्दों की मोहकता और हृदय आर्कषण की स्वाभाविक शक्ति से सम्पन्न होना है।[15]

प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के विषय में मतैक्य का अभाव हैं। विभिन्न विद्वानों ने इस के उत्थान के संदर्भ में अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं–

(अ) संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति :- प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है। प्रकृतिः संस्स्कृतम्। तत्र भवं आगतं वा प्राकृतम्।[16] अर्थात् प्राकृत भाषा की प्रकृति संस्कृत है। अतः संस्कृत से जन्य भाषा प्राकृत है। प्राचीन भारतीय साहित्य में इस तथ्य की पुष्टि करने वाली अनेक व्याख्याएं उपस्थित हैं जिनसे संस्कृत से प्राकृत का जन्म होना सिद्ध

होता है। मार्कण्डेय रचित प्राकृत सर्वस्व में भी वर्णन है कि– "प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते" आदि अनेक ग्रन्थों में ऐसा वर्णन मिलता है।[17]

(ब) छान्दस से प्राकृत की उत्पत्ति :- डा. नेमीचन्द्र शास्त्री जैसे विचारकों का मत है कि संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ किसी एक ही स्रोत से विकसित होने से सहोदरा है।[18] पाश्चात्य-मनीषी डा.ए.सी. वुहलर[19] भी संस्कृत को शिष्ट समाज की भाषा और प्राकृत को जनसाधारण की भाषा मानते हैं। डा. पिशेल ने भी मूल प्राकृत को जनता की भाषा माना है तथा साहित्यिक प्राकृतों को संस्कृत के समान सुगठित भाषा माना है। इससे सिद्ध होता है कि संस्कृत एवं प्राकृत दोनों सहोदरा हैं जिनकी उत्पत्ति वैदिक भाषा या छान्दस् से हुई है।[20]

प्राकृत से संस्कृत की उत्पत्ति :- रुद्रट के काव्यालङ्कार के श्लोक की व्याख्या करते हुए नमिसाधु ने प्राकृत (अपभ्रंश भी) को सकल भाषाओं का मूल बतलाया गया है तथा उसे संस्कृत एवं अन्य भाषाओं का जनक बतलाया गया है। व्याकरण के नियमों से संस्कार किये जाने के कारण ही संस्कृत कहलाती है।

गउडवहो नामक महाकाव्य में वाक्पतिराज ने भी प्राकृत को महान् समुद्र के समान माना है और समस्त भाषाओं के साथ संस्कृत का जन्म भी प्राकृत से माना है।[21] इसी प्रकार राजशेखर ने भी प्राकृत को संस्कृत की योनि = उत्पत्ति स्थान माना है[22] और प्राकृत के विकास को इस प्रकार प्रकट किया है, कि– 1. प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्। 2. प्रकृतीनां साधरणजनानामिदं प्राकृतम्। 3. प्राक् कृतं प्राकृतम्। इन व्युत्पत्तियों से प्राकृत वैदिक भाषा की जननी भी सिद्ध होती है।

प्राकृत को ही आदि भाषा मानते हुए केतकर का मानना है कि– वैदिक भाषा का निर्माण प्राकृत से हुआ है। प्राकृतों के विविध रूपों में से एक रूप वैदिक भाषा का रूप लिया। कालक्रम में वैदिक का

रूपान्तरण लौकिक संस्कृत में हुआ और देश भर में लौकिक संस्कृत का भौगोलिक प्रसार होता गया।[23] इससे मिलता-जुलता विचार डा. माधव मुरलीधर देशपांडे ने प्रस्तुत किया है– "ऋग्वेदीय ऋचाओं की रचना करने वाले ऋषि अपने दैनिक व्यवहार में प्राकृत सदृश भाषा का व्यवहार करते होंगे।" प्राकृत की कुछ विशेषताएं ऋग्वेद के कुल शब्दों में, ध्वनियों में, प्रकृति-प्रत्ययों में और वाक्य रचनाओं में मिलती है।[24]

भाषा निरन्तर विकास करती जाती है यह सतत एवं अदृश्य प्रक्रिया है, जो हमेशा क्रियाशील रहती है दूसरी भाषा का प्रभाव एवं शब्द अन्यान्यों भाषा के साथ संयुक्त होते जाते हैं, भाषा टूटती है और फिर एक नवीन भाषा का संस्कार होता है। यह प्रक्रिया सरलता से कठिनता की ओर चलती है। ऋग्वेद प्राचीन होने के साथ उत्कृष्ट कोटि का साहित्य भी है, जो किसी समय विशेष की उत्पति नहीं होकर एक निरन्तर चलने वाली भाषा-विकास की परिणति है। भारतीय भाषा विज्ञान के मनीषी आचार्य किशोरीदास वाजपेयी भी भाषा विकास के संदर्भ में लिखते हैं कि– जिन ऋषियों ने वेद मंत्रों की रचना की, उन्होंने उसी समय वैदिक भाषा की भी रचना कर डाली थी। वह भाषा एक सुदीर्घ विकास-परम्परा का परिणाम है। इस संदर्भ में आचार्य वाजपेयी के निम्नलिखित तर्क विचारणीय हैं–

वेदों की भाषा का प्राकृत रूप क्या था, यह जानने के लिए निराधार कल्पना की जरूरत नहीं। वेदों की जो भाषा है उससे मिलती-जुलती ही वह प्राकृत भाषा होगी, जिसे हम भारतीय मूल भाषा कहते हैं। उस मूल भाषा को पहली प्राकृत भाषा समझिए। प्राकृत भाषा का मतलब है– जनभाषा। जब वेदों की रचना हुई, उससे पहले ही भाषा का वैसा पूर्ण विकास हो चुका होगा। तभी तो वेद जैसे साहित्य को वह वहन कर सकी। भाषा के इस विकास में कितना समय लगा होगा। फिर वेद जैसा उत्कृष्ट साहित्य तो देखिए। क्या उस मूल भाषा का या "पहली प्राकृत' की पहली रचना ही वेद हैं? सम्भव नहीं।

इससे पहले छोटा-मोटा और हल्का-भारी न जाने कितना साहित्य बना होगा, तब वेदों का नम्बर आया होगा। सो, वेदों की रचना के समय तक वह मूलभाषा पूरी तरह विकसित हो चुकी होगी और देश-भेद या प्रदेश-भेद से उसके रूप-भेद भी हो गये होंगे। उन प्रादेशिक भेदों में से जो कुछ साहित्यिक रूप प्राप्त कर चुका होगा, उसी में वेदों की रचना हुई होगी, परन्तु अन्य प्रादेशिक रूपों के भी शब्द प्रयोग ग्रहीत हुए होंगे।[25]

संस्कृत एवं प्राकृत का यह चिंतन भाषा-विज्ञान के लिए आज भी उतना ही विचारणीय है जितना कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था, परन्तु इस तर्क-वितर्क से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्राकृत भी उतनी ही प्राचीन भाषा है, जितनी की छान्दस् या वैदिक है। भाषा विज्ञान एवं प्राकृत भाषा के विद्वान डा. नेमीचन्द्र शास्त्री ने प्राकृत भाषा के विकास क्रम को समझाते हुए इसे तीन स्तरों में विभक्त किया है। प्रथम भाग 600 ई.पू. से 100 ई. तक का माना है, जिसमें प्राकृत के अनेक रूपों का विकास हुआ है। इन भाषाओं में 1. पाली, 2. पैशाची एवं चूलिका पैशाची, 3. अर्धमागधी (जैन-आगम की भाषा) अशोक के शिलालेख एवं अश्वघोष के नाटकों की भाषा को प्राकृत माना गया है। द्वितीय युग का समय काल 100 से 600 ईसवीं माना गया है। इससे भास एवं कालिदास के नाटकों की प्राकृत तथा 2. काव्य सेतुबन्ध आदि की प्राकृतें तथा 3. प्राकृत व्याकरणों द्वारा अनुशासित प्राकृत तथा परवर्ती जैन-ग्रन्थों की प्राकृतें इस युग की प्रमुख विकसित प्राकृतें मानी गई हैं। तृतीय युग में अपभ्रंश भाषाओं का सृजन हुआ– पाली एवं अपभ्रंश को प्राकृत से पृथक् भाषा के रूप में भी माना जाता है। इन अपभ्रंशों को भी प्राकृत भाषा परिवार के रूप में चार भागों मे विभक्त किया गया है– महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। वररुचि ने अपने प्राकृत प्रकाश में इन्हीं चार प्राकृत-प्रकारों का अनुशासन किया है।[26]

आचार्य हेमचन्द्र ने चूलिका पैशाची, आर्ष (अर्ध मागधी) और अपभ्रंश इन तीनों भेदों को मिलाकर 7 प्रकार की प्राकृतों का अनुशासन किया है। प्राकृतसर्वस्वकार मार्कण्डेय ने प्रथमतः भाषा के चार भेद किए है और फिर उनके अवान्तर भेदों को बतलाया है।

भाषा :- महाराष्ट्री, शौरसैनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी।

विभाषा :- शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, अभीरिकी और शाकी अपभ्रंश के भेदों की संख्या[27] बतलाई गई हैं वहीं पैशाची, कैकयी, शौरसेनी और पाञ्चाली– प्राकृत रूपों को माना है।[28] इसी प्रकार भरत मुनि ने मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसैनी, अधमागधी, वाह्लीका और (दाक्षिणात्य) महाराष्ट्री सात प्राकृतों को उल्लेख नाट्यशास्त्र में किया है।[29]

आर्य भाषा विकास में इन प्राकृत भाषाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। क्योंकि इन प्राकृत भाषाओं से समस्त अपभ्रंशों का जन्म हुआ और यह अपभ्रंश भाषाएं ही आधुनिक समस्त भारतीय भाषाओं की जननी मानी जाती है। भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र में डा. कपिल देव द्विवेदी ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास को समझाते हुए लिखा है कि– "आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास मध्यकालीन अपभ्रंश भाषाओं से हुआ। प्राचीन पांच अपभ्रंशों का विकास हुआ। इन पांच अपभ्रंशों के साथ ही ब्राचड एवं खस दो अपभ्रंशों को और भी लिया जाता है। ब्राचड का उल्लेख मार्कण्डेय ने किया है जबकि खस एक पहाड़ी (उत्तरी) भाग की भाषा थी– इस प्रकार इन सात अपभ्रंशों से पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती तथा महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी, मागधी अपभ्रंश से बिहारी बंगाली उड़िया, असमी, अर्धमागधी से पूर्वी-हिन्दी और पैशाची-ब्राचड़ खस से क्रमशः सिन्धी, पंजाबी एवं पहाडी भाषाओं का विकास माना जाता है।[30]"

मध्ययुग में ईसा की दूसरी से छठी शताब्दी तक प्राकृत भाषा का साहित्य में कई रूपों का प्रयोग हुआ। वैयाकरणों ने प्राकृत भाषा में भी कई नियमों द्वारा एकरूपता लाने का प्रयत्न किया, किन्तु प्राकृत में संस्कृत सदृश एकरूपता नहीं आ सकी। यद्यपि साहित्य में कृत्रिम प्राकृत का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। इससे वह लोक से दूर हटने लगी थी, लेकिन जिन लोक प्रचलित भाषाओं से साहित्यिक प्राकृतों का विकास हुआ वे लोक भाषाएँ अभी भी प्रवाहित हो रही थीं। उन्होंने नई भाषाओं को जन्म दिया, जिसे अपभ्रंश कहा गया। यह प्राकृत भाषा के विकास की तीसरी अवस्था है। प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का क्षेत्र प्रायः एक जैसा था, जिसमें एक विशेष प्रकार का साहित्य-सृजन हुआ।

विकास की दृष्टि से इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः कई विद्वानों ने प्राकृत संस्कृत को एक माना है। जबकि दोनों स्वतंत्र हैं। संस्कृत का प्रभाव प्राकृत एवं अपभ्रंश दोनों पर है। किन्तु प्राकृत की भांति अपभ्रंश का आदर्श संस्कृत भाषा नहीं है। अपभ्रंश जन सामान्य की भाषा का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करती है।[31] इसे आभीरी, भाषा, देशी एवं अवहट्ट आदि नाम भी समय-समय पर दिये गये। ये सब नाम अपभ्रंश के विकास को सूचित करते हैं। कहा गया, जो अपभ्रंश एवं हिन्दी को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी है, यह आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की पूर्ववर्ती अवस्था है।

अपभ्रंश का अर्थ है– च्युत, भ्रष्ट, स्खलित, विकृत या अशुद्ध। अपभ्रंश को ही प्राचीन वैयाकरणों ने प्राकृत का भेद स्वीकार किया है। हेमचन्द्र आचार्य ने इसकी प्रमुख विशेषता बतलाकर इसे शौरसैनीवत् कहा है। इसका साहित्य के रूप में प्रयोग पांचवी शताब्दी के पूर्व होने लगा था। प्राकृत चन्द्रिका में इसके देशादि, भाषादि 27 भेदों का उल्लेख किया है। जिसमें व्राचड, लाटी, वैदर्भी, उपनागर, नागर, बार्बर, अवन्ति, पांचाली, टाक्क, मालवी, कैयसी, गोडी, कोन्तली, ओडी,

पाश्चात्या, पाण्डया, सैहली, कालिङ्गी, प्राच्या, कर्णाटी, काञ्ची, द्राविड़ी, गोर्जरी, अमीरी, मध्यदेशीया एवं वैतालिकी है। इन 27 भेदों में से विद्वानों ने और तीन भेदों में विभक्त किया, जिसमें नागर, उपनागर और ब्राचड् है। अनेकों विद्वान अपभ्रंश को एक स्वतन्त्र भाषा मानते है और अपभ्रंश को प्राकृत एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास मानते हैं। पतञ्जलि ने अपने महाकाव्य में संस्कृत से भिन्न सभी असिद्ध गावी, गोणी, गोता आदि प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्दों को सामान्य रूप से अपभ्रंश कहा है। वस्तुतः प्राकृत का अन्तिम चरण अपभ्रंश माना जाता है।

भारतीय परम्परा के कोशकारों ने अपभ्रंश का अर्थ एवं उत्पत्ति के बारे में लिखा कि यह शब्द भ्रंश् धातु में अप उपसर्ग के योग से बना है। यह दोनों शब्द अप-उपसर्ग और भ्रंश धातु, दोनों का प्रयोग अधः पतन, गिरना, विकृत होना आदि के अर्थो में प्रयुक्त होता है। संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थों में यह शब्द अपभ्रंश एवं अपभ्रष्ट के नाम से मिलते हैं। इसी प्रकार प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रन्थों में अवहंस अवब्भंस, अवहट्ट, अवहत्थ, अवहर आदि नामों से इसका उल्लेख मिलता है।[32]

डा. नामवर सिंह अपभ्रंश को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि– भाषा के सामान्य मापदण्डों से जो शब्द रूप भ्रष्ट हो "चूक जायें" वह अपभ्रंश है। यह आवश्यक है कि भाषा का एक सामान्य मापदण्ड बोलियों के अनेक विकृत शब्द रूपों से स्थिर होता है। किन्तु उसके साथ यह भी निश्चित है कि लोक व्यवहार में उस सामान्य मान के विकार होते रहते हैं। संभव है प्रतिमान पर विश्वास रखने वाले विद्वानों ने ऐसे विकारों को अपभ्रंश कहने की परिपाटी बना दी हो।[33]

कुछ शताब्दियों तक प्राकृत में विभिन्न प्रकार का साहित्य सृजन होता रहा– यह एक भाषा-वैज्ञानिक सत्य है कि लोक भाषा हमेशा बदलती चलती है। और जो बदलती चलती है वही लोक भाषा होती

है। प्राकृत के बाद धीरे-धीरे एक नई भाषा अपभ्रंश का जन्म लोक-भाषा के रूप में हुआ और ईसा की पांचवी-छठी शताब्दी में वह अपभ्रंश भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए सशक्त माध्यम बन गई।

पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने अपभ्रंश का अर्थ नीचे बिखरना (लोक में विकसित होना) बताया है और कहा है कि– अपभ्रंश एवं देशी भाषा और कुछ नहीं बांध से बचा हुआ वह पानी है, जो नदी मार्ग पर तो चला आया है परन्तु बांध तक नहीं पहुँचा है। उनका आशय है कि संस्कृत शब्द एक है तो व्यवहार के प्रवाह में पानी की तरह सरकने वाले अपभ्रंश शब्द अनेक हैं।[34]

जो अपभ्रंश शब्द ईसा से दो शताब्दी पूर्व अपगमनीय प्रयोग के लिए प्रयुक्त होता था, वही ईसा की छठी शताब्दी तक आते-आते एक साहित्यिक भाषा संज्ञा बन गया।

यह भाषा की निरन्तर विकासशील प्रवृति की परिणति है, जो आज भी एक अदृश्य रूप में क्रमिक विकास की ओर बढ़ रही है।

सन्दर्भ :

1. अणीयस्त्वाच्य शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थ लोके। - निरुक्त 1/1
2. भारतीय भाषा-विज्ञान - 8 आचार्य किशोरी दास वाजपेयी, पृष्ठ. 6
3. An Interoduction to campratire philology - Page - 4
4. Speeh and lunguage, Page - 1
5. भाषा रहस्य : श्यामसुन्दर कृत अनुवाद पृष्ठ. सं. 7
6. 1. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः 2. तस्माद्यजुस्तमादजायत (क) ऋग्वेद 10.90.9, (ख) ऋग्वेद 8.100.11
7. शब्दकल्पद्रुप - खण्ड-3
8. न्यायकोश-पृ. स. 627
9. सर्वदर्शनसंग्रह पृ. सं. 164
10. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश-आप्टेकृत
11. भाषा विज्ञान डा. कर्णसिंह पृ. सं. 8

12. अष्टाध्यायी 1.3.48 (पाणिनी)
13. Element of science of language by taraparwala Page - 21
14. राजस्थनी सबद कोस री भूमिका-पृ.6
15. राजमल बोरा, प्राकृत भाषा निबन्ध से
16. सिद्दहेमशब्दानुशासन 8.1.1
17. सिद्दहेमशब्दानुशासन 1.1
प्राकृत संस्कृतम्। तत्र भव तत आगतम वा प्राकृत
18. प्राकृत भाषा साहित्य का इतिहास पृष्ठ संख्या 19
19 प्राकृत दीपिका की भूमिका वही 8
20. प्राकृत दीपिका की भूमिका (8)
21. गोहवाहो-93 सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेतों य णेंतिवायाओ।
एंति समुद्ध चिय णेंति सामराओ च्चिय जलाई।
22. स्याद्योनि : किल संस्कृतस्य
सुदशां जिहसु वन्मोदते-बालरामायण 48
23. राजमल बोराः- प्राकृत भाषा निबन्ध से
24. राजमल बोराः- प्राकृत भाषा निबन्ध से
25. वही
26. प्राकृत दीपिका की भूमिका (8)
27. प्राकृत भाषा साहित्य का इतिहास पृ.स. 19
प्राकृत दीपिकाः की भूमिका
28 प्राकृत सर्वस्व 1.1 (मार्कण्डेय)
29 मागध्यवन्ति प्राच्या शौरसेन्यर्द्ध मागधी।
बांह्लीक दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता ।।
नाट्यशस्त्र 17 48
30. भाषा-विज्ञान एव भाषा शास्त्रे
डा. कपिल देव शास्त्री - पृ.सं. 475
31 प्राकृत अपभ्रंश एवं अन्य भारतीय भाषाएं पृ.सं. 5
32. अपभ्रंश भाषा और व्याकरण पृ.स. 4
33. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ.स. 20
34 पुरानी हिन्दी-द्वितीय खण्ड-पृ.स. 243, 44

वरिष्ठ शोध अध्येता
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)

चाँदखेड़ी का विचित्र "जैन-मन्दिर"

– ललित शर्मा

औरंगजेब का नाम आते ही व्यक्ति के मानस पटल पर एक ऐसे शासक की तस्वीर उभर आती है जिसने भारत के कई देवालयों को क्रूरता से ध्वंस करवाया। लेकिन इसे आश्चर्य कहें या कुछ और कि राजस्थान में एक स्थान ऐसा भी है जहाँ मूर्ति भंजक औरंगजेब के समय में एक पूरे ही मन्दिर का निर्माण हुआ और वह स्थान है- दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में कोटा जंक्शन (कोटा) से 85 कि.मी. दक्षिण में स्थित झालावाड़ जिले के खानपुर कस्बे के निकट चाँदखेड़ी में। चाँदखेड़ी नामक यह स्थल व यहां का यह जैन मन्दिर मुख्यालय झालवाड़ से 35 कि.मी. दूर पूर्व में बस मार्ग से सीधा जुड़ा हुआ है। जो रूपली नदी के किनारे स्थित है।

इस मन्दिर के मूल गर्भगृह में एक विशाल तल-प्रकोष्ठ है जिसमें भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव) की लाल पाषाण की पद्मासनावस्था की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यह प्रतिमा इतनी अधिक मनोज्ञ है- मानो मुँह बोलती है। श्रवणबेलगोला के बाहुबली की प्रतिमा के उपरान्त भारत की यह दूसरी मनोज्ञ प्रतिमा है।[1] दरअसल यह मुख्य प्रतिमा इस क्षेत्र से 6 मील दूर बारहा पाटी पर्वतमाला के एक हिस्से में बरसों से दबी हुई थी।[2] सांगोद निवासी किशनदास मड़िया बघेरवाल (तत्कालीन दीवान कोटा राज्य) को एक रात स्वप्न में बारहापाटी से प्रतिमा निकालने का संकेत मिला।[3] तदनुरूप प्रतिमा बैलगाड़ी में रखकर सांगोद लाई जा रही थी कि मार्ग में रूपली नदी पर हाथ-मुँह धोने के लिये गाड़ी रुकी। कुछ समय बाद बैल जोतकर गाड़ी चलाने का उपक्रम किया गया तो गाड़ी एक इंच भी न सरक कर वहीं स्थिर हो गई। गाड़ी को खींचने के लिये कई बैलों का बल प्रयोग किया गया परन्तु वह

निष्फल ही रहा। अतः नदी के पश्चिमी भू-भाग पर उक्त मन्दिर का निर्माण करवाया गया।[4] उस समय बादशाह औरंगजेब ने अपने अधिकृत साम्राज्य में मन्दिर बनवाने की सख्त मनाही करवा रखी थी। उसने सैंकड़ों देवालयों को ध्वस्त करवा दिया था और जिन लोगों ने नये मन्दिर बनवाने के प्रयास किये, उन पर अत्याचार किये जाते थे तब चाँदखेड़ी में मन्दिर बनाने की खबर औरंगजेब जैसे बादशाह से कैसे छिपी रह सकती थी? परन्तु उस समय वह भारत के दक्षिणी प्रदेश के युद्धों में उलझा हुआ था और राजपूतों के साथ उसकी कुछ वर्षो पूर्व ही लड़ाई हुई थी। इसके अलावा उसी समय कोटा के महाराव किशोर सिंह हाड़ा तन-मन से औरंगजेब के साथ युद्ध में सहयोगी थे। इसी कारण से उसने चांदखेड़ी के निर्माणाधीन मन्दिर की ओर ध्यान नहीं दिया। ठीक ऐसे समय में हाड़ौती में मन्दिर निर्माण का काम कोटा के शासकों के हेतु मुगल दरबार में प्रतिष्ठा का परिचायक है। उक्त जैन मन्दिर वाला क्षेत्र कोटा राज्य के आधीन था। इससे पूर्व कोटा के हाड़ा राजपूत शासकों ने अकबर, जहांगीर शाहजहॉ व औरंगजेब जैसे शासकों के लिए अपनी जान जोखिम में डालकर उनके पक्ष में युद्ध किये थे। इस कारण मुगल बादशाह कोटा के हाड़ा शासकों से काफी प्रभावित थे और उन्हें महत्वपूर्ण पद प्रदान किये थे। लेकिन फिर भी अजमेर का सूबेदार बार-बार अपने अहदियों को कोटा राज्य में भेजकर ताकीद किया करते था कि- "मन्दिर बनवाना बंद किया जाये।" इस समय चूंकि औरंगजेब सुदूर दक्षिण में था और अजमेर के सूबेदार को येन-केन प्रकारेण सन्तुष्ट रखना असंभव था फिर भी किशनदास मड़िया को रह-रह कर यह भय था कि किसी दिन यह मन्दिर न तुड़वा दे। इसलिये उन्होंने तरकीब से इस मन्दिर को विचित्र तरीके से **मस्जिदा- कार** रूप में निर्मित करवाया अर्थात् मूल मन्दिर जमीन के भू-गर्भ में ही बनवाया।[5] क्षेत्र के द्वार से प्रवेश करने पर एक किलेनुमा अहाता है जिसकी बाहरी बनावट मस्जिदाकार है, मूलतः यह उस समय मुस्लिम आक्रमणकारियों से बचाव का प्रयास थी, जिससे वे इसे मस्जिद समझ

कर न तोड़ सकें। अहाते के मध्य समवशरण महावीर स्वामी के 'कैवल्य-ज्ञान' की प्राप्ति के स्वरूप का मन्दिर है। इसमें आध्यात्मिकता के साथ प्रतिमा कला का भी सुन्दर और अनुपमेय संगम है। इसकी प्रतिष्ठा आचार्य देशभूषण जी महाराज के सान्निध्य में सम्पन्न हुई थी। इस मन्दिर में 8 फीट ऊँचा और डेढ़ फीट का संगमरमर का सुन्दर मान स्तम्भ है जिसके शीर्ष पर भगवान महावीर की तपस्या भाव की चर्तुमुखी प्रतिमा है। इसके नीचे महावीर की माता के सोलह स्वप्नों का अनुपम स्वप्न कथा संसार निर्मित है।

इस मन्दिर के वैभव से अभिभूत हो जब विगत 7 सितम्बर 1983 को राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल ओ.पी. मेहरा यहाँ आये तो उन्होंने इस मन्दिर के बारे में यह लिखा कि- "हमारी इच्छा होती है कि इस पावन स्थल पर हम बार-बार दर्शन हेतु आते रहें।"- ऐसी मनोज्ञ प्रतिमा जिसमें भक्ति और शांति की सरस धारा निरन्तर प्रवाहित होती है, उनके दर्शन सौभाग्य से ही प्राप्त होते हैं और जिन्हें होते हैं उनका जीवन भी धन्य हो जाता है।[6] समवशरण के बाद के अहाते में यात्रियों को ठहरने के दर्जनों सुविधा युक्त हवादार कक्ष बने हुए हैं। इसी अहाते के मध्य यह विचित्र जैन मन्दिर बना हुआ है। इसके चारों कोनों पर चार सुन्दर छत्रियां बनी हुई है। मन्दिर के मुख्य द्वार पर एक चौखुटा व 10 फीट ऊँचा कीर्तिस्तम्भ है इसमें चारों ओर दिगंबर तीर्थकरों की सुन्दर मूर्तियाँ बनी हुई हैं। मध्य में एक ऊँचा अभिलेख है।[7] इसमें संवत् 1746 की माघ शुक्ला को यहाँ पंचकल्याणक कराने का उल्लेख है। एक लेख में आमेर गादी के भट्टारक स्वामी जगत् कीर्ति का पूरा लेख उत्कीर्ण है। द्वितीय लेख भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का है।[8] मुख्य द्वार के बाद मन्दिर का अंतःभाग आता है। जो सचमुच में मन्दिर का मूल-भाग प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा नहीं है और यह भूल-भुलैया ही इस मन्दिर की विचित्र निर्माण शैली है। मूलतः इस भाग में पंच-वेदियां एवं एक गन्धकुटी बनी हुई है। वेदियों में 24 तीर्थंकरों की मूर्तियाँ

स्थापित हैं। मूल गंधकुटी में सुपार्श्वनाथ स्वामी की पद्मासन प्रतिमा है। ये सभी एक चौकोर बरामदे में स्थापित है। इसी बरामदे में तीन वेदियॉ गर्भ गृह में हैं इसमें प्रथम वेदी में 3 पाषाण प्रतिमाएँ, द्वितीय में बाहुबली की 5 फीट की खड्गासन प्रतिमा है। जो कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं। तीसरी और अन्तिम वेदी में आठ जैन-प्रतिमाएँ है। इसी गर्भगृह के दाँयी ओर एक गुप्त मार्ग बना हुआ है जो मुख्य गर्भगृह को जाता है इसे 'तल-प्रकोष्ठ' कहा जाता है। यह प्रकोष्ठ ऊपर से 25 फीट नीचे भू-गर्भ में है। इस गर्भगृह में उतरनें पर बॉयी ओर की दीवार में चतुर्मुखी चक्रेश्वरी देवी की सुन्दर प्रतिमा है, जबकि सामने की दीवार पर चतुर्भुजी अंबिका की प्रतिमा है। गर्भ गृह के बाँयी ओर एक अन्य जैन खड्गासन प्रतिमा है। गर्भ-गृह के बाँयी ओर के निकट एक फलक में 55 जैन प्रतिमाएँ दोनों ओर ध्यानासनों में प्रतिष्ठित हैं। इसी के मध्य मूल रूप तीर्थंकर महावीर स्वामी की अत्यन्त कलापूर्ण एवम् मनोज्ञ-प्रतिमा प्रतिष्ठित है।

मुख्य गर्भगृह में एक विशाल वेदी पर मूल नायक भगवान आदिनाथ (ऋषभदेव) की लाल पाषाण की पद्मासनावस्था तथा पद्मांजलि मुद्रा की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इसी अनुपम प्रतिमा के अधखुले नेत्रों एवं धनुषाकार भौहों का अंकन अत्यन्त मन-मोहक है। प्रतिमा के वक्ष पर 'श्रीवत्स' है एवं हाथ-पैरों में पद्म बने हुए हैं। इसके दक्षिण पाद पर एकलेख भी उत्कीर्ण है।[9] जिस पर विक्रम संवत् 1746 वर्षे माघ सुदी 6 सोमवार को मूलसंघ भट्टारक स्वामी जगतकीर्ति द्वारा (खींचीवाड़ा में) चाँदखेड़ी के नेतृत्व में महाराव किशोर सिंह के राज्य में बघेरवाल वंशी भूपति संघवी किशनदास बघेरवाल द्वारा बिम्ब प्रतिष्ठा कराई जाना अंकित है। यह प्रतिमा 6.25 फीट ऊँची एवं 5 फीट चौड़ी है। इसके दर्शन करते ही मन में अपूर्व वीतरागता और भक्ति शान्ति के भाव उत्पन्न होते हैं। प्रतिमा का निर्माण काल अंकित नहीं है। मन्दिर के वाम स्थल पर एक अंकन लेख व प्रतिमा पर संवत् 512 अंकित है,

परन्तु उसका मूल आधार अभी तक ज्ञात नहीं हो पाया है। हालांकि यह क्षेत्र अतिशयक्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध है।

झालरापाटन की प्राचीन और प्रख्यात फर्म बिनोदी राम-बाल चन्द के वंशज दिगम्बर जैन रत्न उद्योगपति श्री सुरेन्द्र कुमार सेठी का मानना है कि चांदखेड़ी को 18 वीं सदी में देश भर में वही स्थान प्राप्त था जो प्राचीन काल में अयोध्या, मथुरा श्रावस्ती और शत्रुंजय जैसे पवित्र स्थानों को था।[10] सारतः चांदखेड़ी के इस भव्य और औरंगजेब कालीन विचित्र जैन मन्दिर में जैन धर्म के सारे आयोजन बड़ी ही धूमधाम से मनाये जाते हैं। देश के सुदूर राज्यों से जैन धर्म के सैकड़ों परिवार एवं अब पर्यटक भी यहाँ आने लगे है। वे इस मन्दिर की विचित्र निर्माण शैली और सुन्दर प्रतिमा के दर्शन कर अपनी धार्मिक यात्रा और पर्यटन पूर्ण करते है। इस मन्दिर में करीब 546 बिम्ब प्रतिष्ठित है।[11] वर्तमान में मन्दिर में अनेक प्रकार के नवीन कार्य चल रहे हैं जिनसे यह मन्दिर और भी सुन्दर हो गया है।

जैकी स्टूडियो, 13-मंगलपुरा स्ट्रीट,
झालावाड़ (रजि.) 326001

पुस्तकीय एवं चर्चा सन्दर्भ-

1. श्री आदिनाथ दिगंबर अतिशयक्षेत्र चांदखेड़ी स्मारिका 1987, पृष्ठ-2
2. भारत के दिगंबर जैन तीर्थ, चौथा भाग, बलभद्र जैन-1978, पृष्ठ-31
3. बघेरवाल जाति का इतिहास डा. विद्याधर जोहरापुरकर-2001 पृष्ठ-77 (श्री निखिलेश सेठी- विनोद भवन झालरापाटन से प्राप्त तदर्थ आभार)
4. जैन संस्कृति कोष-प्रथम भाग (एनसाईक्लोपिड़िया) भागचद जैन, पृष्ठ-521
5. कोटा राज्य का इतिहास-प्रथम भाग- डा. एम.एल. शर्मा, पृष्ठ-220
6. मन्दिर की विजिटर बुक-1988 ई.
7. मन्दिर में लगा अभिलेख

8. निखिलेश सेठी से प्राप्त एक दुर्लभ पुस्तक एवं कोटा राज्य परिशिष्ट संख्या-11 पूर्वोक्तक
9. प्रतिमा पर अंकित लेख व मन्दिर के प्रथम भाग की दांयी पट्टिका पर लगा लेख
10. विनोद भवन झालरा पाटन के उद्योगपति विद्वान श्री सुरेन्द्र कुमार जी सेठी से ली गई। जैन-धर्म विषयक एक गम्भीर चर्चा के आधार पर
11. पूर्वोक्तक वर्णित मन्दिर स्मारिका-1987, पृष्ठ-3

आदर्श गृहस्थ

न्यायोपात्तधनो यजन्गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्म विधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्।।

– सागारधर्मामृत, 1/11

न्यायपूर्वक धन कमाने वाला, गुणों में श्रेष्ठ लोगों का सम्मान करने वाला, सत्यवक्ता, धर्म-अर्थ-काम का विरोध रहित सेवन करने वाला, तीनों पुरुषार्थों के योग्य स्त्री, ग्राम एवं घर से युक्त, लज्जालु, शास्त्रोक्त आहार-विहार वाला, आर्यजनों की संगति करने वाला, बुद्धिमान, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, धर्म विधि का श्रोता दयालु एवं पापभीरू व्यक्ति को गृहस्थ धर्म का आचरण करना चाहिए अर्थात् वही श्रावक धर्म को धारण करने योग्य है।

चन्द्रगुप्त मौर्य व उनकी कृति सुदर्शन झील

– प्रतिष्ठाचार्य संदीप कुमार जैन

सुदर्शन झील पश्चिम भारत के सौराष्ट्र देश के गिरिनगर स्थित गिरनार पर्वत की प्रान्तीय नदियों पर बांध बांधकर चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा बनवाई गई थी। इस झील के सन्दर्भ में समय-समय पर अनेक विद्वानों ने लिखा है किन्तु कहीं पर भी पूर्ण जानकारी न मिलने से इस झील का इतिहास अधूरा जान पड़ता है। इस लेख के माध्यम से इस झील व झील के निर्माता की विस्तृत जानकारी देने का प्रयास किया गया है। आशा है पाठकगण इससे लाभान्वित होंगे। इसके लिए सर्वप्रथम मौर्य वंशी सम्राट चन्द्रगुप्त के इतिहास पर एक दृष्टि डालनी अति आवश्यक है।

कलिंगजिन (आद्य तीर्थकर वृषभदेव) मूर्ति पूजक एवं जैन धर्मोपासक नंद वंश के अंतिम नरेश धननन्द को पराजित कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलीपुत्र (वर्तमान पटना) के राज सिंहासन को एक धार्मिक और शक्तिशाली सम्राट के रूप में सुशोभित किया व मगध में मौर्य वंश के शासन की स्थापना की।

कौटिल्य अर्थशास्त्र, कथासरित्सागर तथा बौद्ध साहित्य के अनुसार आप एक क्षत्रिय राजा थे।[1] विष्णुपुराण एवं मुद्राराक्षस के अनुसार उसे नन्दराजा की शूद्रा दासी मुरा या धर्मघाती जाति की पत्नी से उत्पन्न कहा गया है।[2]

इतिहासकार बी.पी. सिन्हा की मान्यता है कि मगध उस काल में आर्येतर समाज का दुर्ग था तथा आर्यगण उस क्षेत्र के निवासियों को व्रात्य कहते थे। अब क्योंकि चन्द्रगुप्त विस्तृत मगध क्षेत्र का स्थानीय नायक था, अतः वह उपेक्षित रहा।[3] पाश्चात्य विद्वान् राईस डेविड्स के

अनुसार चूँकि चन्द्रगुप्त जैन धर्मानुयायी हो गया था इसी कारण जैनेतरों द्वारा वह अगली दस सहस्राब्दियों तक इतिहास में नितान्त उपेक्षणीय रहा।[4] इतिहासकार टामस इस सम्राट को जैन समाज का महापुरुष मानते हैं[5] सुप्रसिद्ध विद्वान रैप्सनने इस सम्राट को इतिहास का लंगर (The Sheet anchor of Indian chronology) कहा है।[6]

यूनानी दूत मैगिस्थिनीज भी यही लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त ने ब्राह्मणों के सिद्धांत के विरोध में श्रमणों (जैनों) के उपदेश को स्वीकार किया था।[7] यूनानी ग्रीक इतिहासकारों ने इसे सैण्ड्रोकोट्टस माना है[8] जिसकी पुष्टि सर विलियम जोन्स भी करते हैं।[9]

उपरोक्त अनेक विद्वानों व पुराणकारों के अध्ययन से पता चलता है कि मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त भारतीय इतिहास का अद्वितीय अमिट और अविस्मरणीय प्रकाश स्तम्भ है। ऐसे प्रतिभाशाली उदार और सौम्यदृष्टि सम्राट ने हारकर भागते हुए नन्द नरेश राजा धननन्द की पुत्री सुप्रभा के आग्रह पर राजकुमारी सुप्रभा के साथ विवाह कर उसे मगध राज्य की सम्राज्ञी बनाया। राज्य आरोहण के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने भारतीय पश्चिमी सीमा को यूनानी परतन्त्रता से मुक्त कराकर अपनी शक्ति और समृद्धि को उत्तरोत्तर वृद्धिंगत किया। विशाल वाहिनी के बल पर उसने सम्पूर्ण आर्यावर्त (उत्तरी भारत) पर अपनी विजय पताका फहराई। मालवा गुजरात और सौराष्ट्र देश पर विजय प्राप्त कर उसने नर्मदा तक साम्राज्य का विस्तार किया।[10] यूनानी शासक सिकन्दर के पश्चात् उसका सेनापति सिल्यूकस मध्य एशिया के प्रान्तों का शासक बना और वह भी सिकन्दर के समान भारत विजय करने आया परन्तु दुर्भाग्यवश उसे सम्राट चन्द्रगुप्त से अपमानजनक हार कर मुँह की खानी पड़ी। चन्द्रगुप्त ने उसके प्रयासों को विफल कर दिया। विवश होकर सिल्यूकस को सन्धि करनी पड़ी तथा पंजाब, सिंध अफगानिस्तान, सिंधू नदी के पश्चिम में एरियाना (हेरात, आफगानिस्तान का प्रान्तीय नगर)[11], पेरापेनीसड़ाई एरिया (काबुल घाटी), (प्राचीन कुंभा अथवा काबुल नदी

के किनारे बसा नगर, जो आधुनिक अफगानिस्तान की राजधानी है।)[12] [अराकोसिया (कन्दहार (अफगानिस्तान का दूसरा बड़ा नगर, जो एक महत्वपूर्ण मंडी भी है)][13] बलूचिस्तान (भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिम में किरथर पर्वत श्रृंखला के उस पार स्थित)[14] आदिस्थान सम्राट को समर्पण कर दिए।[15]

सम्राट के इस बल को देखकर सिल्यूकस ने अपनी पुत्री हेलेन का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया तथा चन्द्रगुप्त ने सिर्फ 500 हाथी सेनापति सिल्यूकस को उपहार स्वरूप भेंट दिए।[16] सिल्यूकस का दर्प चूर कर उत्तरपश्चिम में हिन्दूकुश पर्वत तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। समस्त उत्तरीय भारत को एक समुद्र से दूसरे समुद्र से मिलाकर उस पर एक छत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया।[17] इन्हीं उपलब्धियों के कारण चन्द्रगुप्त की गणना भारतीय इतिहास के महान और सर्वाधिक सफल सम्राटों में होती हैं।[18]

युद्ध विजय के लगभग 2 वर्षों के उपरांत सिल्यूकस निकेतर ने यूनानी राजदूत मेगस्थनीज को पाटली पुत्र दरबार में भेजा था। उसने अपनी इंडिका नामक पुस्तक में पाटली पुत्र नगर के वर्णन के साथ-साथ उस समय के रीति-रिवाजों का वर्णन किया था।[19]

उसके अनुसार यह नगर सोन और गंगा नदी के संगम पर (आधुनिक दीनापुर के निकट) बसा था तथा इसका महल ऐश्वर्य और वैभव में सूसा और इकबताना के महलों को भी मात कराता था।[20] इस नगर के चारों तरफ एक काठ की दीवार बनी थी, जिसमें 64 फाटक तथा 570 बुर्जियाँ थी। इस दीवार के चारों तरफ गहरी खाई थी, जिसमें सोन नदी का जल भरा रहता था।[21] मौर्य सम्राट के शासनकाल में पाटली पुत्र को भारतीय साम्राज्य का केन्द्रस्थान प्राप्त होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और यह बहुत समय तक स्थित भी रहा।[32]

तीर्थंकर वृषभदेव से भगवान महावीर की परंपरा के सूत्रधार पंचम अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी के शिष्य जैन मतावलंबी सम्राट्

मौर्य ने अपने शासन का सिद्धान्त प्रजाजन का कल्याण एवं नागरिक सुविधाओं को उपलब्ध कराने का रखा था। भ. ऋषभदेव की षट्क्रिया में प्रधान कर्म कृषि कार्य को बढ़ावा देने के लिए अनेक प्रयत्न किए थे। जिनमें दूरस्थ प्रांतों में खेती के लिए सिंचाई के साधन उपलब्ध कराए गए थे। राज्य में सिंचाई आदि के सर्व सुलभ साधनों का प्रयोग किया जाता था।

कमलापति त्रिपाठी का कथन है कि मौर्यकाल में सिंचाई के लिए चार प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता था- हाथों द्वारा सिंचाई करना, कंधों द्वारा पानी ले जाकर **सिंचाई** करना, स्रोत से यंत्रों द्वारा सिंचाई करना तथा नदी सरोवर तालाब और कूपों द्वारा सिंचाई करना।[23] त्रिपाठीजी आगे कहते हैं कि मौर्य सम्राट के काल में पश्चिमीय प्रान्त के शासक पुष्यगुप्त ने गिरिनगर की पहाड़ी की एक नदी पर बांध बनवाया था। जिसके कारण वह झील रूप में परिवर्तित हो गई और उसका नाम सुदर्शन झील रखा गया।[24]

भारतीय इतिहास कोष के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने सौराष्ट्र में पुष्यगुप्त नामक एक वैश्य को अपना राष्ट्रीय प्रतिनिधि नियुक्त किया था, जिसने वहाँ की एक नदी पर बांध बनाकर प्रसिद्ध सुदर्शन झील का निर्माण कराया।[25]

जे.एच. दबे के अनुसार चन्द्रगुप्त इस झील का निर्माण किसी अज्ञात राजा ने कराया था, जो अपरकोट से अश्वत्थामा गिरि तक स्वर्ण सिक्ता और पलासिनी नदी को घेरती हुई 268 एकड़ भूमि में बनी थी।- From the edicts of Ashoka it appears that this place and the town of Junagarh were famous during Maurgan times. On this very stone Containing edicts of Ashoka there is the inscriptiopn of the 2nd century A.D. of Kshatrapa Rudradaman. It records the repairing of the sudarshan talao, which was originally built by some unknown king, repaired by Ashoka and subsequently further repaired by Rudradaman and Skanda Gupta. The Gupta

Emperor through his victory, Chakra Patila, again repaired this talao in A.D.455-56.

Scholars believe that this sudarshana lake started from the Aswatthama hill, went up to the walls of uperkot, and was bounded by river Suvarna Rekha or Sonarekh and river Palasini. The Area of this lake was considered to be 268 acres.

चन्द्रगुप्त के राज्य में कृत्रिम नहरों का निर्माण करके कृषि कार्य में सहायता पहुँचाई जाती थी। नदियों पर बांध बांधे जाते थे। सरोवरों कूपों के निर्माण के साथ-साथ उनकी मरम्मत भी करवाई जाती थी। वर्षा के जलको एकत्रित करने के लिए नदियों के किनारे झीलें बनवाई जाती थीं, क्योंकि जल ही खेती बाड़ी का आधार था। इसलिए इस बात का पूरा प्रबन्ध किया जाता था कि प्रत्येक मुनष्य को आवश्यकतानुसार पर्याप्त जल भी उपलब्ध हो सके और जल की अधिकता से राज्य में खेती व व्यापार की हानि भी न हो सके।

इसी भावना से प्रेरित होकर मौर्य सम्राट ने ई.पू. 372 में उज्जयिनी को राजधानी बनाकर दक्षिण देशों को दिग्विजय करने के लिए प्रयाण किया और सौराष्ट्र नगर में प्रवेश किया। प्रथमतः गिरनार पर्वत पर विराजित भगवान नेमि जिन की वन्दना की पश्चात् पर्वतराज पर निर्ग्रन्थ मुनियों के निवास के लिए वसतिका (गुफा) का निर्माण कराया, जो चन्द्रगुफा के नाम से विख्यात है।

तथा पर्वतराज की तलहटी में अश्वत्थामा गिरि से अपरकोट तक अपने राज्यपाल "पुष्यगुप्त" वैश्य की देख-रेख में आस-पास के क्षेत्रों में सिंचाई करने हेतु पर्वतीय नदी सुवर्णरिखा या सोनरेखा (स्वर्णसिल्का) और पलासिनी नदी पर बांध बांधकर 268 एकड़ भूमि में "सुदर्शन" नामक विशाल झील का निर्माण कराया।

इस झील का नाम सुदर्शन रखने का एक धार्मिक मन्तव्य है।

प्रत्येक तीर्थकर के काल में दस दस अंतःकृत (उपसर्ग) केवली होते हैं। भगवान महावीर के शासनकाल के दस अंतःकृत केवलियों में से पाँचवें अंतःकृत केवली का नाम 'सुदर्शन' था। सुदर्शन पूर्व भव में सेठजी के यहाँ गोप नामक ग्वाला थे। ये एक समय गंगा नदी में फंस गए और महामंत्र का स्मरण करते-करते प्राण निकल गए। उस मंत्र के प्रभाव से उसी सेठजी के घर में पुत्र उत्पन्न हुए। अपने जीवन में मित्र-पत्नी, राजपत्नी (रानी) वेश्या आदि अनेकों स्त्रियों की कुदृष्टि से बचते हुए उपसर्ग सहते रहे और महामंत्र के प्रभाव से बचते रहे। अन्त में संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर आत्म कल्याण कराने वाली दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर श्मशान में ध्यानारूढ़ हो गए। वहाँ भी व्यंतरी के उपसर्ग को सहना पड़ा। उपसर्ग विजयी मुनिराज ने घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त किया तथा व्यंतरी ने भी उपदेश ग्रहणकर सम्यक्त्व भाव धारण किया। अपनी आयु को पूर्ण कर उपसर्ग-विजयी केवली भगवान सुदर्शन ने मुक्ति-रमा का वरण किया।[27] उन केवली भगवान सुदर्शन की निधीधिका (चरणक्षत्री) मगधाधिपति सम्राट मौर्य की राजधानी पटना के गुलजार बाग में बनी हुई थी। सम्राट मौर्य संसारी बैर भाव को भुलाकर मोक्षपद में स्थित कराने वाले महामंत्र के आराधक थे और सुदर्शन केवली के उज्ज्वल चारित्र, उपसर्ग और महामंत्र के प्रभाव से भी अत्यंत प्रभावित थे। संभवतः उन्हीं की स्मृति स्वरूप केवली सुदर्शन के नाम पर स्वर्णसिक्ता और पलासिनी नदी पर बांध बांधकर बनने वाली झील का नाम "सुदर्शन झील" रखा गया जो सम्राट् के पूर्व से पश्चिम तक के एक सूत्र शासन का प्रतीक थी।

सम्राट् ने अनेक स्थलों पर धर्मायतनों का निर्माण कराकर सौराष्ट्र मार्ग से होते हुए महाराष्ट्र में प्रवेश किया तथा महाराष्ट्र कोंकण, कर्नाटक, तमिलदेश पर्यन्त समस्त दक्षिण भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। लगभग 24 वर्षों तक शासन करने के उपरांत अपने गुरु पंचम अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी से बारह वर्ष का अकाल जानकर संसार शरीर भोग से वैराग्य हो गया। अपने पुत्र बिन्दुसागर को

राज्य देकर वे दिगम्बरी दीक्षा धारण कर मुनि बन गए। अपने गुरु के साथ दक्षिण दिशा की ओर प्रयाण किया वहां कटवप्र या कुमारी पर्वत पर अपने गुरु का संन्यासपूर्वक समाधिमरण कराया। 12 वर्ष के अकाल के पश्चात् देश-देशान्तर भ्रमण करके अंत में जिस स्थान पर भद्रबाहु स्वामी ने समाधिमरण पूर्वक नश्वर देह का त्याग किया था उस स्थान पर पहुँच गए। मान्यता है कि दक्षिण प्रांत के जिस कटवप्र या कुमारी पर्वत पर चन्द्रगुप्त मुनि ने तपस्या की थी व सल्लेखना पूर्वक शरीर का त्याग किया था इस घटना की स्मृति में वह पर्वत "चन्द्रगिरि" पर्वत कहलाया।[28]

सम्राट् की मृत्यु के उपरांत उनके पौत्र अशोक के शासनकाल में स्वयं अशोक ने भी अपने पश्चिमी प्रान्तीय यवन शासक तुषास्फ से इस सुदर्शन झील से नहरें निकलवाई थीं।[29]

सम्राट् अशोक के पश्चात् ई. सन् 150 में रुद्रदामन ने इस झील का बांध टूट जाने पर उसका पुनर्निर्माण कराया।[30]

सन् 456-57 ई. में स्कन्दगुप्त ने अपार धन खर्च करके इस झील का पुनः निर्माण कराया था। स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य के भू-भाग पर पर्णदत्त को नियुक्त किया तथा पर्णदत्त ने शासन संचालन के लिए अपने पुत्र चक्रपालित को नियुक्त किया। चक्रपालित की देख-रेख में ही इस झील का पुननिर्माण किया गया। यथा

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ शिलालेख वर्ष 136-37 के अनुसार-गुप्तकाल के 136 वें वर्ष (ई. सन् 455-56) में भाद्रपदमास (अगस्त-सितम्बर) के छटे दिन रात्रि में भारी वर्षा के कारण सुदर्शन झील (जो कि गिरनार की तली में चारों ओर फैली घाटी में कण्ठनाली- जिसमें कि यह अभिलेख मिलता है- के पार बने हुए एक प्राचीन बांध निर्मित हुआ था) फूट पड़ा। बांध के पुनर्नवीनीकरण द्वारा विदारण का पुनः निर्माण चक्रपालित की आज्ञा से दो महीने के उपरांत वर्ष एक सौ सैंतीस में (ई. सन् 456-57) में सम्पन्न हुआ।[31]

इस प्रकार लगभग 800 वर्षों तक मौर्य सम्राट द्वारा निर्मापित "सुदर्शन" झील से पश्चिमी देशों में सिंचाई का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। वर्तमान सरकार को इसका पुनः जीर्णोद्धार कराना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के रचनात्मक कार्यों से प्राचीन भारतीय कृषि एवं सिंचाई व्यवस्था को अभूतपूर्व गौरव प्राप्त होता है।

संदर्भ :-

1. भद्रवाहु चाणक्य चन्द्रगुप्त प्रस्तावना पृ. 20 डा. राजाराम जैन **2.** वही पृ. 20, **3.** वही पृ.20 **4.** वही पृ.22 **5.** वही पृ.22 **6.** वही पृ.22 **7.** वही पृ. 22 **8.** वही पृ. 22 **9.** वही पृ.22 **10.** भारतीय इतिहास कोष पृ. 143, **11.** वही पृ. 502, **12.** वही पृ. 89 **13.** वही पृ. 72 **14.** वही पृ. 265 **15.** वही पृ. 143-44, 484 व 387-88 **16.** वही पृ. 404 **17.** वही पृ. 143 तथा मौर्यकालीन भारत पृ. 15 **18.** भा.इ. को पृ.144 **19.** वही पृ. 144 व 380 **20.** वही पृ. 144 **21.** मौर्यकालीन भारत-कमलापति त्रिपाठी पृ. 15 **22.** वही पृ. 15 **23.** वही पृ. 85 **24.** वही पृ. 87 **25.** भा.इ. को पृ. 245 & Age of The nandas & Mauryas by A.K. Neelkant Shastri Page 155 **26.** Immortal India vol 11 page 119-120 **27.** सुंदर्शण चरिउ-मुनि नयनन्दि रु. 1043 प्राकृत जैन शोध सस्थान से प्रकाशित रामचन्द्र मुमुक्षु कृत पुण्यास्रव कथा कोष जीवराज जैन ग्रंथमाला से प्रकाशित चतुर्थ संस्करण सन् 2006 पृ. 84-85, हरिपेणाचार्य कृत बृहत्कथाकोष सिंधि जैन ग्रंथमाला बम्बई सन् 1943 पृ. 196-131, प्रभाचन्द्राचार्य कृतकथा कोष. मणिकचन्द दि. जैन ग्रंथमाला प्रथम संस्करण सन् 1974 पृ. 42-43 तथा भगवती आराधना, शिवकोटि आचार्य कृत विजयोदया टीका अपराजितसूरि, भा. टीका- पं कैलाशचन्दजी शास्त्री जीवराज जैन ग्रथमाला सोलापुर से प्रकाशित, तृतीय सस्करण सन् 2006, पृ. 474 गाथा 758 **28.** भद्रवाहु चा. कथानक प्रस्तावना एवं जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ. 184-85 **29.** मौर्यकालीन भारत पृ. 87 **30.** वही पृ. 87 **31.** भारतीय अभिलेख संग्रह भाग 3 सं. 14 by Dr. फ्लीट.

D-2/20 जनकपुरी नई दिल्ली-58

इष्टोपदेश-भाष्य एवं अध्यात्मयोगी मुनि श्री विशुद्धसागर जी

— प्राचार्य पं. निहालचन्द जैन.

इष्टोपदेश इक्यावन गाथाओं का यथा नाम तथा गुणवाला एक लघुकाय आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जो पं. आशाधर जी की संस्कृत टीका के साथ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला मुम्बई से प्रकाशित हुआ था, बाद में इसका तृतीय संस्करण 1965 में वीर सेवा मंदिर-दरियागंज दिल्ली से प्रकाशित हुआ, जिसके सम्पादक श्री जुगल किशोर 'मुख्तार' युगवीर और अनुवादक पं. परमानन्द शास्त्री थे, प्रति अवलोकनार्थ मिली। इसके रचयिता श्री पूज्यपाद स्वामी का उल्लेख श्रवणवेल्गोल के शिलालेखों में नहीं है, फिर भी कृति अपने महत्व को स्वतः ख्यापित करती है। श्री पूज्यपाद स्वामी 5वीं व 6वीं शताब्दी के लब्ध प्रतिष्ठित तत्त्व दृष्टा आचार्य रहे। आपके गुरु द्वारा प्रदत्त नाम 'देवनन्दी' था, जो प्रकर्ष बुद्धि के धनी और विपुल ज्ञानधारी होने से 'जिनेन्द्र बुद्धि' नाम से भी विश्रुत हुए। बाद में जब से उनके युगल चरण, देवताओं द्वारा पूजे गये, बुधजनों के द्वारा वे 'पूज्यपाद' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।

आपकी प्रशस्ति में अधोलिखित ये श्लोक सन्दर्भित हैं।

कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरां तम वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मल-ध्वंसि, तीर्थं यस्य वचोपमम्।।
अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणः।
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भितः।।
पूज्यपाद सदा पूज्यपादः पूज्यै पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्ण सद्गुणः।।
अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक् चित्तसम्भवम्।
कलङ्क- मङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते।।

शक सम्वत् 1355 में उत्कीर्ण श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं. 40(64),

105(254) एवं 108 (258) में आपका मुक्तकण्ठ से यशोगान किया गया है। आपको अद्वितीय औषधि-ऋद्धि के धारक बताया गया है। कहते हैं आपने ऐसा रसायन खोजा था, जिसे पैरो के तलुवों में लेपन कर विदेह क्षेत्र जाकर, वहाँ स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से आपका शरीर पवित्र हो गया था। जिनके चरण धोए जल-स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना बन गया था। आप समस्त शास्त्र विषयों में पारंगत थे और कामदेव को जीतने के कारण योगियों ने आपको 'जिनेन्द्र बुद्धि' नाम से पुकारा। आप महान वैयाकरण (जैनेन्द्र व्याकरण के स्वयिता) थे। श्री जिनसेनाचार्य ने लिखा- "जिनका वाङ्मय शब्दशास्त्र रूपी व्याकरणतीर्थ, विद्वज्जनों के वचनमल को नष्ट करने वाला है, वे देवनन्दी कवियों के तीर्थकर हैं।" "विदुषां वाङ्मल- ध्वंसि" गुणसंज्ञा से आपको विभूषित किया गया था।

जहाँ "सर्वार्थसिद्धि" आपकी सिद्धान्त में परम निपुणता को, 'छन्दःशास्त्र' बुद्धि की सूक्ष्मता को व रचना चातुर्य को तथा "समाधि शतक" स्थित प्रज्ञता को प्रगट करता है।, वहाँ "इष्टोपदेश" आत्म-स्वरूप सम्बोधन रूप अध्यात्म की गवेषणात्मक प्रस्तुति है। पूज्य मुनि श्री विशुद्धसागर जी एक अध्यात्म चेता जैन संत हैं, विषयों से विरक्त परम तपस्वी हैं, जिन्होंने इसका भाष्य लिखा और द्रव्यानुयोग आगम ग्रन्थों के सन्दर्भो से युक्त यह 'इष्टोपदेश-भाष्य' जो आपके चिन्तन और अध्यात्म की अतल गहराई में उतरकर अनुभूति का शब्दावतार है। मुनि श्री का ही चिन्तन आपके प्रवचनों में मुखर होता है। समता भाव और आडम्बरहीन आपकी सालभर चलने वाली दिनचर्या है। जो भी बोलते हैं- अनेकान्त की तुला पर तौलकर बोलते हैं। निश्चय और व्यवहार का समरसी समन्वय आपकी पीयूष वाणी से झरता है।

यह मुनि श्री की वाणी का अद्भुत चमत्कार है कि प्रवचन के समय-अध्यात्म रसिक श्रोता भाव विभोर हो सुनता है और एकदम

सन्नाटा छाया रहता है। आगम में अल्पज्ञान हो तो विवाद पैदा करता है, यदि तत्त्व की पकड़ दोनों नयों से भली भांति की गयी है, और कौन नय कब प्रधान है कब गौण है, इस सापेक्षता को मुनि श्री अपने भेद विज्ञान विवेक से भली-भांति जानते हैं। कहीं कोई विवाद, शंका और संदेह नहीं उठता जब आपकी ज्ञानधारा अविरल प्रवाहित होती है। श्री विशुद्धसागर जी ऐसे जैन दि. संत हैं जिनकी स्याद्‌वादवाणी रूप गंगा, निश्चय और व्यवहार नय-कूलों को संस्पर्शित करती हुई प्रबुद्ध जनों के हृदय में उतर जाती है। अध्यात्म के सूक्ष्म भावों को सहजता से व्याख्यापित कर देना केवल पांडित्य से सम्भव नहीं है, वहाँ सम्यक्त्व की शुद्धात्मानुभूति और समत्व-भावों की फलश्रुति काम करती है।

इस भाष्यकार संत में मैंने एक निरालापन संत व्यक्तित्व की झलक देखी है। आज जब एक आचार्य संघ के साधुगण दूसरे आचार्य-संघ के साधु गणों से आत्मीय सौजन्य नहीं रख पा रहे हैं। इतना ही नहीं एक ही कुल के साधु गणों में आत्मीय वात्सल्य दिखाई नहीं देता, ऐसे में यदि दो संघों के साधुओं में 'मिलन' होता है तो वह एक महोत्सव से कम नहीं लगता। उस मिलन-महोत्सव के क्षणों में श्रावक भी प्रसन्नता का अनुभव करता है। अध्यात्मयोगी विशुद्धसागर जी जिनके दीक्षा गुरु आचार्य विरागसागर जी महाराज हैं परन्तु अपने प्रवचनों में उनकी अटूट श्रद्धा संतशिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के लिए मुखर होती रहती है। वे प्रतिवर्ष आ० विद्यासागर जी का संयमोत्सव वर्ष मंच से मनाते हैं। यह संतसौहार्द मुनि श्री विशुद्धसागर की अध्यात्म-चेतना का एक प्रबल पक्ष है। कोई पक्ष-व्यामोह नहीं, जहाँ केवल वीतरागता को नमन है- चाहे वे आप विरागसागर हों या आ० विद्यासागर।

इधर विगत 20 वर्षों से अनेक राष्ट्रीय स्तर को विद्वत्संगोष्ठियॉ अनेक आचार्य/उपाध्याय और मुनियों के पावन सान्निध्य और उनके आशीर्वाद व प्रेरणा से समायोजित हो रही हैं जहॉ देशभर के मनीषी एक मंच पर बैठकर अपने जैनदर्शन/कर्म और श्रावकाचार पर गवेषणात्मक प्रस्तुतियाँ देकर शोध-पत्र पढ़ते हैं। परन्तु ऐसी कोई जैन

साधुओं और आचार्यों की संगतियाँ समायोजित नहीं हुई पिछले 50 वर्षों में। जैसा इतिहास में पढ़ा था कि नालन्दा और तक्षशिला विश्वविद्यालयों में श्रमण साधुओं की संगतियाँ हुआ करती थीं वे आज दुर्लभ हैं। आज हर संघ के साधुओं की अपनी-अपनी चर्या होती जा रही है और इक्कीसवीं सदी का प्रभाव उनमें घुसपैठ कर रहा है। चाहे वह मोबाइल का प्रयोग हो या विज्ञापन की खर्चीली विधियाँ, वातानुकूलित कक्षों में रहना हो या फ्लश का उपयोग। अब तो साधु की साधना का एक ही मापदण्ड रह गया है कि वह प्रवचन कला में कितना प्रवीण या निपुण है और श्रोताओं की भीड़ जुटाने में कितना सक्षम हैं? मुनि विशुद्ध सागर इसके अपवाद हैं। लोग इन्हें लघु आचार्य विद्यासागर जी तक कहने लगे हैं क्योंकि श्री विशुद्धसागर जी की मुनिचर्या आगमानुकूल निर्दोष चर्चा है। शिथिलाचार आपकी चर्चा में फटक नहीं पाता और आचार्यश्री विद्यासागर जी के लघु-संस्करण हैं और समत्व और वीतरागता के प्राञ्जल-नक्षत्र हैं। जैन समाज आज बीस, तेरा में विभक्त हो रही है, निश्चय और व्यवहार पक्ष के कारण विभाजित है। उपजाति के आधार पर अपनी पहिचान बनाने में 'गोलापूर्व' जैसे सम्मेलन में शक्ति का विभाजन हो रहा है। उन सभी संकीर्णताओं से अलग खड़े मुनि विशुद्ध सागर जैन समाज के एकीकरण के लिए अपने अध्यात्म को समर्पित भाव से उपयोग करके आत्मसाधना में निरत हैं।

इष्टोपदेश भाष्य की पाण्डुलिपि पढ़कर मुझे इस प्रज्ञा-पुरुष की प्रतिभा का आभास हुआ और सिर श्रद्धा से झुक गया। इष्टोपदेश को पढ़कर ऐसा लगता है कि पूज्यपाद स्वामी ने आ० कुन्दकुन्द देव के समयसार, प्रवचनसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों को आत्मसात् करके ही इसे सृजित किया है। आत्म रसिक स्वाध्यार्थियों को आत्म चिन्तन के सरोवर में निमग्न होने के लिए जैसे 'गागर में सागर' भरने की उक्ति चरितार्थ कर दी हो। यह सत्य है कि जब कोई महान आत्मसाधक साधना की चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है तो उसकी भावाभिव्यक्ति मानवीय सम्वेदना के बहुत निकट पहुँच जाती है। अध्यात्म का कठिन रास्ता,

उसके लिए सरल बन जाता है। उदाहरणार्थ एक गाथा यहाँ उद्धृत करता हूँ–

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि।।37

संस्कृत की इस गाथा नं. 37 का भावपूर्ण सौष्ठव देखें। संवित्ति अर्थात् स्व. पर के भेद विज्ञान से आत्मा जैसे जैसे विशुद्ध और प्राञ्जल बनती हुई आत्म-विकास करती है, वैसे वैसे ही सहज प्राप्त रमणीय पञ्चेन्द्रिय के विषय उसे अरुचिकर और निःसार लगने लगते हैं। उन विषयों के प्रति उदासीन या अनासक्त भाव जाग्रत होने लगता है। जैसे सूर्य प्रकाश के सामने दीपक का प्रकाश मंद दिखता हुआ तिरोहित सा हो जाता है। उसी प्रकार निजानन्द चैतन्य स्वरूप का भान होने पर उस विराट आत्म-सुख के समक्ष, विषय भोग के सांसारिक सुख क्रान्तिहीन और बोने लगते हैं। आत्म साधक के लिए वे सुख आकर्षित नहीं कर पाते।

जिनेन्द्र भगवान् ने निराकुलता को सच्चा सुख कहा है। संसार-सुख देह भोग का सुखाभास है। जैसे इन्द्र धनुष की सुन्दरता क्षणिक और काल्पनिक है वस्तुतः वह दृष्टिभ्रम का एक उदाहरण है वैसे ही इन्द्रिय सुख-आकुलता को पैदा करने वाला वैसा ही सुख है जैसे शहद लिपटी तलवार की धार को जीभ से चाँटने का सुख होता है। उस क्षणिक सुख में वेदना का पहाड़ छिपा होता है। विषय काम-भोग के सुख वस्तुतः सुख की कल्पना के पर्दे के पीछे खड़ा दुःख का स्तूप है।

जिसे अध्यात्म रस की मिठास मिलने लगती है वह पदार्थों के सम्मोहन से ऊपर उठ जाता है। वैराग्य-भाव से निज निधि की तलाश में वह आत्म अन्वेषण करता हुआ इष्ट उपदेश की ओर उन्मुख होता है जो उसका कल्याणकारी होता है। दूसरे शब्दों में जैसे-जैसे इन्द्रिय भोग से रुचि घटती जाती है। आत्म प्रतीति उसी अनुपात में बढ़ती जाती है। 'भात्म-संवित्ति' का वैभव कितना विराट और अनन्त है, एक गाथा में कह देना यह पूज्यपाद स्वामी की विलक्षण शुद्धात्मानुभूति ही थी।

हुआ, जीवन के इष्ट कल्याण के लिए पुरुषार्थ नहीं करता। लोभ कषाय का तीव्र संस्कार कि धन संरक्षण में जीवन ही खो देता है।

10. आत्म ध्यान से अभेदात्मक उपयोग की स्थिर दशा प्राप्त करना और संसार के संकल्प विकल्पों से रहित होकर एक निरंजन आत्मा का अनुभव करना उस ग्रन्थ का इष्ट लक्ष्य है। आत्म संसिद्धि के लिए इस ग्रन्थ की आध्यात्मिक संरचना का ताना-बाना बुना गया है। भाष्यकार मुनि श्री विशुद्धसागर जी ने प्रस्तुत भाष्य में आत्म चिन्तन के फलक पर एक वैचारिक क्षितिज प्रस्तुत किया। मन्थन करके अध्यात्म का नवनीत पाने का एक सफल पुरुषार्थ किया और गाथाओं के प्रतिपाद्य विषय को अनेक उदाहरणों और सन्दर्भों द्वारा विस्तारित किया है। इस भाष्य को पढ़कर तत्त्व जिज्ञासु निश्चित ही संयम तप और त्याग वृत्ति की ओर अभिमुख होता हुआ उस मार्ग पर बढ़ने का आत्म बल जुटाता है, जो मोक्ष पथ की ओर ले जाता है। आत्म चिन्तन से कर्म निर्जरा का एक सबल निमित्त साधक को भाष्य पढ़कर मिलता है। पूज्यपाद स्वामी ने इसके अलावा समाधितंत्र और तत्त्वार्थसार जैसे स्वतंत्र आध्यात्मिक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया जो शब्दों में न्यून होकर रहस्य और भावों से भरे हैं। श्री विशुद्धसागर जी ने तत्त्वार्थसार की प्रत्येक गाथा पर स्वतंत्र प्रवचन करते हुए जो अध्यात्म रस छलकाया है वह तो पाठक पढ़कर ही अनुभव कर सकता है। भाष्य में जो इष्टोपदेश गाथाओं की पद्य रचना की गयी है वह प्रसादादि गुणों से युक्त है। अध्यात्म वाणी का संदोहन करके भाष्य की रचना अपने आप में ऐसा ग्रन्थ बन गया जो आत्म-वैभव से परिचित कराता हुआ प्रज्ञा-प्रकाश से भरता है। भाष्य का पठन प्रफुल्लित करता है और भव्य जीव के क्षयोपशम को बढ़ाता है। उसका मिथ्यात्व व अज्ञान स्वयमेव छंटता जाता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है। यह लघु समयसार रूप है जो आत्मा की महनीयता को उजागर करता है।

भौतिकवादी भोग संस्कृति के झंझावात में आज सम्पूर्ण मानवीय

सभ्यता डूब रही है। उसको चेतना से कोई लेना देना नहीं। देह की पौद्गलिक माया की मोह गली में भ्रमित हो, एवं दिशाहीन होकर भटकाव में जी रहा है। शान्ति पाने के सारे सूत्र उसके हाथ से खिसक गये हैं। सम्वेदनाएँ शून्य हो गयी है तथा धनार्जन का मायावी भूत उसके सिर पर चढ़कर बोल रहा है। आपाधापी के इस संक्रमण काल में यह भाष्य, मानवता के जागरण का शंखनाद कर रहा है। यह भाष्य जीवन की दशा सुधारने में और दिव्य दिशा पाने में एक दिक्सूचक की भांति जीवन का श्रेष्ठ आयाम बनेगा ऐसा मेरा विश्वास है। अज्ञ को विज्ञ बनाना इस भाष्य का इष्ट-फल है। मुनि श्री विशुद्धसागर जी को अध्यात्मयोगी जो सार्थक विशेषण नाम के पूर्व अंकित किया गया, वह वस्तुतः आपके व्यक्तित्व की वह दीप शिखा है जिससे एक रोशनी मिलती है सही जीवन जीने की और अध्यात्म के रसों को अपने जीवन में संजोने की।

इष्टोपदेश भाष्य- द्रव्यानुयोग की एक और अमर कृति बने, इस आस्था से समीक्षाकार मुनि श्री के चरणों में विनत भाव से नमोऽस्तु करता है।

जवाहर वार्ड - बीना (म.प्र.)

धर्मानुप्रेक्षा

देवता भविता श्वापि, देवः श्वा धर्मपापतः।
तं धर्मं दुर्लभं कुर्या, धर्मो हि भुवि कामसूः।।

क्षत्रचूडामणि, 11/78

हे आत्मन्! पाप के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है और धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है। इसलिए ऐसे दुर्लभ धर्म को धारण करना प्राणिमात्र का कर्तव्य है। धर्म करने से निश्चय ही संसार में सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

वैदिक और श्रमण संस्कृति में आदान-प्रदान : एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया

– डॉ. कमलेश कुमार जैन

एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि आप कमरे में दस खिलौने रख दीजिये। उसके बाद दो बच्चों को उन खिलौनों से खेलने के लिये दौड़ दें। थोड़ी देर बाद आप देखेंगे कि दोनों बच्चें एक ही खिलौने से खेलना चाहते हैं और दोनों आपस में लड़ना शुरू कर देंगे। किसी बुजुर्ग व्यक्ति के समझाने पर वे दोनों एक ही बात कहेंगे कि इस खिलौने से पहले मैं खेल रहा था। बुजुर्ग व्यक्ति को यह पता लगाना मुश्किल हो जायेगा कि पहले खिलौने को किसने उठाया था। क्योंकि दोनों बच्चों के तर्क एक दूसरे से बढ़कर होंगे और अन्त में बलिष्ठ और तर्कशील बालक उस खिलौने का हकदार बन जायेगा। मैं समझता हूँ कि कुछ सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है।

वैदिक परम्परा में एक पद्य प्रचलित है–

मङ्गलं भगवान् विष्णुः मङ्गलं गरुडध्वजः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो गोविन्दायतनो हरिः।।

इसी प्रकार श्रमण परम्परा की अङ्गभूत दिगम्बर जैन परम्परा में यह पद्य निम्नाङ्कित रूप में उपलब्ध होता है–

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

श्वेताम्बर जैन परम्परा में भी यह पद्य किञ्चित् परिवर्तन के साथ इस प्रकार प्रचलित है–

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं स्थूलभद्राद्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वैदिक परम्परा वालों में उक्त पद्य में अपने

इष्टदेवताओं को मङ्गल स्वरूप माना है। दिगम्बर जैन परम्परा वालों ने अपने इष्ट-देवताओं किंवा आचार्यों का स्मरण करते हुये उन्हें मङ्गल स्वरूप माना है। इसी प्रकार श्वेताम्बर जैनों ने प्रथम दो अर्थात् भगवान महावीर स्वामी और गौतम स्वामी को तो मङ्गल स्वरूप स्वीकार किया है किन्तु बाद में परम्परा-भेद हो जाने के कारण उन्होंने कुन्दकुन्द के स्थान पर स्थूलभद्र को मङ्गल स्वरूप स्वीकार किया है। अर्थात् परम्परा भेद के कारण हमारे मङ्गल स्वरूप आचार्य भी पृथक्-पृथक् हो गये। जबकि दोनों आचार्य अपनी-अपनी परम्परा के पोषक हैं और तप-त्याग के कारण मङ्गल स्वरूप हैं।

अब यहाँ यह ज्ञात करना मुश्किल है कि वैदिक और जैन—इन दोनों परम्पराओं में कौन प्राचीन है और कौन अर्वाचीन, निश्चित है कि दोनों अपने को प्राचीन कहना पसन्द करेंगे तथा अर्वाचीन कहलाने से परहेज करेंगे। जबकि मेरी दृष्टि में तथ्य कुछ और भी हो सकता है। गङ्गा का जल सतत प्रवाहमान है उसका समान रूप से उपयोग सभी परम्पराएँ करती है। कोई यह नहीं कह सकता है कि मैंने गङ्गाजल से सिंचित पेड़-पौधों, वनस्पतियों, साग-सब्जियों अथवा अन्न आदि का उपयोग सबसे पहले किया है, अतः गङ्गा पर मेरा एकाधिकार है और यदि ऐसा कोई कहता भी है तो उस पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता है।

शब्दराशि जब से अस्तित्व में आई है तब से सभी परम्पराएँ उसे ग्रहण कर अपनी परम्परा के अनुसार आकार दे रही हैं। अब अपनी-अपनी परम्पंरा को प्राचीनतम सिद्ध करने का व्यामोह उन्हें परस्पर झगड़ा करने को आमन्त्रित कर रहा है।

आदान-प्रदान का एक कारण यह भी है कि बड़े-बड़े आचार्य अपने सम्प्रदाय में उचित सम्मान न पाये जाने के कारण तथा दूसरी परम्परा से प्रभावित होने के कारण अथवा अन्य किसी कारणवशात् अपना सम्प्रदाय तो बदल लेते थे, किन्तु प्रतीक रूप में वे अपनी परम्पराएँ

जाने-अनजाने साथ ले आते थे। फलस्वरूप पूर्व परम्परा के संस्कार उत्तरवर्ती परम्परा में ऐसे घुलमिल जाते हैं कि उसके मूलस्रोत का ज्ञान प्राप्त करना ही अपने आप में एक समस्या है।

आचार्य हरिभद्र प्रारम्भ में वैदिक संस्कृति से संबद्ध थे, किन्तु बाद में अपनी अटपटी प्रतिज्ञा के कारण श्वेताम्बर जैन परम्परा में दीक्षित हो गये। अब सम्प्रदाय परिवर्तन के पश्चात् उनके द्वारा लिखित साहित्य में वैदिक परम्परा के बीज खोजे जा सकते हैं। इसी प्रकार महाकवि अर्हद्दास द्वारा लिखित भव्यजनकण्ठाभरण में भी वैदिक तत्त्वों का अनायास समावेश हो गया। आदान-प्रदान के इन बीजों का पता वही लगा सकता है जो दोनों परम्पराओं का गहन अध्येता हो। अन्यथा जन-सामान्य तो गुरुभक्ति और श्रद्धा के कारण उसे अपने धर्मविशेष का अङ्ग मानकर चलता है।

अच्छी बातों को ग्रहण करने में कभी कोई संकोच न तो किया गया है और न ही किया जाना चाहिये। वैदिक संस्कृति में अहिंसा का पर्याप्त महत्त्व प्रतिपादित किया गया है, किन्तु उसका जैसा सूक्ष्म विवेचन एवं परिपाक जैन संस्कृति में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। परवर्ती वैदिक विधि-विधानों में उसका पर्याप्त प्रभाव दिखलाई देता है। जहाँ अश्वमेध और गोमेध आदि यज्ञों का वैदिक परम्परा में बहुप्रचलन था, अब वह प्रायः चर्चा में रह गया है। दशाश्वमेध घाट एक ही है। एकादशाश्वमेध घाट तो अभी तक नहीं बन सका। यह अहिंसा के प्रति हमारी जागरूकता ही कही जायेगी। पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने तो अश्व का अर्थ इन्द्रियों से जोड़कर एक नई क्रान्ति का बिगुल फूँककर अहिंसा की प्रतिष्ठा को मजबूती प्रदान की है और कुछ हद तक वे जैनों की अहिंसा के करीब आ रहे हैं। गो का अर्थ वाणी करना और वाणी को विश्राम देना अर्थात् मौन धारण करना जैसे गोमेध यज्ञ के अर्थ निश्चय ही स्वागतेय हैं।

इसी प्रकार

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत् पञ्चनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

अथवा

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः।।

आदि पद्यों पर विचार करें तो ये सभी सन्दर्भ किसी पद स्रोत से गृहीत प्रतीत होते हैं क्योंकि शब्दराशि अनन्त है और उस अनन्त शब्दराशि में से बहुत कुछ विविध सम्प्रदायों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, किया गया है और किया जाता रहेगा।

हाँ! कुछ बातों पर विचार अवश्य किया जाना चाहिये और वह यह कि वैदिक परम्परा मूलतः प्रवृत्तिवादी परम्परा है, क्रियाकाण्ड में विश्वास रखने वाली है, परन्तु इसे ही सर्वथा स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस युक्ति के आधार पर उक्त कथन किया गया है। कुछ अंशों में वैदिक परम्परा में भी आरण्यक संस्कृति के दर्शन हमें प्राचीन साहित्य में अनेक स्थलों पर मिल जायेंगे। वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम–इन दो आश्रमों का जीवन निवृत्तिपरक ही है और इनका उद्देश्य ही यह है कि क्रमशः मोह-ममता से निवृत्त होकर आत्म-साधना करना।

वस्तुतः यह एक प्रवाह है, जो परम्पराओं के माध्यम से हमें विरासत में प्राप्त हुआ है, हो रहा है और भविष्य में भी होगा, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है।

दूसरी ओर श्रमण परम्परा है। यह सामान्य रूप से निवृत्तिपरक मानी जाती है और है भी, किन्तु इस सबके बावजूद आज उसे सर्वथा निवृत्तिपरक परम्परा कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस परम्परा में भी अब शादी-विवाह अथवा अन्य अवसरों पर हवन आदि क्रियाकाण्ड प्रचलन में आ गये है, जो मूलतः वैदिक परम्परा के अङ्ग हैं।

आदान-प्रदान हमारी अनुकरणात्मक प्रवृत्ति के द्योतक हैं और ये अनुकरण विविध क्षेत्रों में प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। धार्मिक, समाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में आदान-प्रदान पर्याप्त मात्रा में हुआ है। ·

आज जो शोध-खोज हो रही है उसमें इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि इसका मूलस्रोत क्या है? अर्थात् विविध कलाएँ तत् क्षेत्रों में अपने मूलरूप किंवा प्रारम्भिक रूप प्रारम्भ हुई और जैसे ही उनका कार्यक्षेत्र बढ़ा। प्रसिद्धि बढ़ी और लोगों को यदि वह कला पसंद आ गई तो उसको आत्मसात् कर लिया और इस ढंग से किया कि गुरु गुड़ रह गये और चेला चीनी हो गये। इसमें परवर्ती की कलाबाजी और प्रोपेगण्डा भी हो सकता है जो मूलस्रोत को भुलाकर स्वयं मूलस्रोत के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

साहित्य के क्षेत्र में आदान-प्रदान की कला का आचार्य राजशेखर ने बहुत अच्छा उल्लेख किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि–पूर्व कवियों के तथ्यों को किंवा काव्यों में किञ्चित् परिवर्तन करके अथवा भावों में किञ्चित् परिवर्तन करके उसे अपना बना लिया जाता है। इस विषय में उन्होंने अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

मैं समझता हूँ कि वैदिक परम्परा अथवा श्रमण परम्परा में परस्पर में विविध क्षेत्रों में बहुत कुछ आदान-प्रदान हुआ है, जो हमारे सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक सम्बन्धों को गहरी मजबूती प्रदान करते हैं और वे इस बात के साक्षी हैं कि हमारा परस्पर आदान-प्रदान का व्यवहार प्राचीन ही नहीं, अपितु प्राचीनतम है तथा परस्पर में निश्चय में कोई बैर-विरोध नहीं है। विविधता हमारी संस्कृति है। अच्छी बातों को ग्रहण करना और बुराइयों का त्याग करना यह प्रत्येक भारतीय के लिये गौरव की बात है। फिर चाहे वह वैदिक परम्परा से सम्बद्ध हो अथवा श्रमण परम्परा से अथवा अन्य किसी भी परम्परा से सम्बद्ध हो।

अन्त में मैं यशस्तिलकचम्पूकार आचार्य सोयदेवसूरि के उस मङ्गल पद्य को उद्धृत कर अपनी बात पूरी करना चाहूँगा, जिसमें उन्होंने जैनों के लिये यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि अपने सम्यक्त्व और व्रतों में कोई दूषण न लगता हो तो अन्य परम्परा को स्वीकार करने से परहेज नहीं करना चाहिये। वे लिखते हैं कि–

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रत दूषणम्।।

प्रोफसर जैनदर्शन, का. हि. वि. वि.
निर्वाण भवन, बी 2/249, लेन नं. 14
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-221005
दूरभाष : 0542-2315323

देहे निर्ममता गुरौ विनयता नित्यं श्रुताभ्यासता।
चारित्रोज्ज्वलता महोपशमता संसारनिर्वेदता।।
अन्तर्बाह्यपरिग्रहव्यजनता धर्मज्ञता साधुता।
साधो! साधुजनस्य लक्षणमिदं संसार विच्छेदनम्।।

– सम्यक्त्वकौमुदी, 280

शरीर में ममता का अभाव, गुरुजनों के प्रति विनयसम्पन्नता, निरन्तर शास्त्राभ्यास, चारित्र की निर्मलता, अत्यन्त शान्तवृत्ति, संसार से उदासीनता आन्तरिक एवं बाह्य परिग्रह का त्याग, धर्मज्ञता और साधुता- ये साधुजनों के लक्षण संसार विच्छेद के कारण हैं।

श्रावकाचारों में वर्णित सल्लेखना, विधि एवं साधक

– डॉ. जयकुमार जैन

सल्लेखना का स्वरूप

जैन परम्परा में मरण की सार्थकता और वीतरागता की कसौटी के रूप में सल्लेखना की स्वीकृति है। सल्लेखना शब्द सत् + लेखना का निष्पन्न रूप है। सत् का अर्थ है सम्यक् रूप से तथा लेखना का अर्थ है कृश या दुर्बल करना। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सल्लेखना का लक्षण करते हुए लिखा है- "सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य वाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्-लेखना सल्लेखना।"[1] अर्थात् अच्छी तरह से काय और कषायों को कृश करने का नाम सल्लेखना है। सल्लेखना में बाह्य शरीर एवं आन्तरिक कषायों को उनके कारणों का त्याग करके क्रमशः कृश किया जाता है। चारित्रसार आदि अन्य श्रावकाचारों में सर्वार्थसिद्धि के लक्षण की ही भावात्मक अनुकृति दृष्टिगोचर होती है। प्रायः श्रावकाचार विषयक सभी ग्रन्थों में जीवन के अन्त में सल्लेखना धारण करने का विधान श्रावक के लिए भी किया गया है। कतिपय ग्रन्थों में सल्लेखना के स्थान पर संन्यासमरण या समाधिमरण शब्द का प्रयोग मिलता है। भगवती आराधना में भक्तप्रत्याख्यान के माध्यम से काय एवं कषाय का कृशीकरण स्वीकार किया गया है, अतः उसमें भक्तप्रत्याख्यान ही सल्लेखना है।

व्रतोद्योतन श्रावकाचार में मित्र, स्त्री, वैभव, पुत्र, सौख्य और गृह में मोह को छोड़कर अपने चित्त में पञ्च परमपद स्मरण करने को सल्लेखना कहा गया है।[2] वसुनन्दिश्रावकाचार में सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत स्वीकार करते हुए कहा गया है कि अपने घर में या जिनालय में रहकर जब श्रावक गुरु के समीप मन-वचन-काय से भली-भाँति अपनी

आलोचना करके पेय के अतिरिक्त विविध आहार को त्याग देता है, उसे सल्लेखना कहते हैं।[3]

सल्लेखना के भेद

भगवती आराधना में कहा गया है कि सल्लेखना दो प्रकार की है- आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर सल्लेखना तो कषायों में होती है तथा बाह्य सल्लेखना शरीर में।[4] फलतः कषायों के कृश करने को आभ्यन्तर तथा काय को कृश करना बाह्य सल्लेखना हैं। श्री जयसेनाचार्य ने पञ्चास्किाय की तात्पर्यवृत्ति में कषाय सल्लेखना को भावसल्लेखना तथा काय सल्लेखना को द्रव्यसल्लेखना कहा है और इन दोनों के आचरण को सल्लेखना काल कहा है। उन्होंने लिखा है-

"आत्मसंस्कारानन्तरं तदर्थमेव क्रोधादिकषायरहितानन्तज्ञानादि गुणलक्षणपरमात्मपदार्थे स्थित्वा रागादिविकल्पानां सम्यग्लेखनं तनूकरणं भावसल्लेखना, तदर्थं कायक्लेशानुष्ठानं द्रव्यसल्लेखना, तदुभयाचरणं स सल्लेखनाकालः।"[5] यहाँ यह कथ्य है कि कषायसल्लेखना या भावसल्लेखना और कायसल्लेखना या द्रव्यसल्लेखना में साध्य-साधक भाव संबन्ध है। अर्थात् बाह्य काय या द्रव्य सल्लेखना आभ्यन्तर कषाय या भाव सल्लेखना का साधन है।

सल्लेखना कब?

सल्लेखना के अर्ह व्यक्ति का कथन करते हुए भगवती आराधना में कहा गया है कि जिसके दुःसाध्य व्याधि हो, श्रामण्य की योग्यता को हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था हो अथवा देव-मनुष्य या तिर्यंचकृत उपसर्ग हो तो वह व्यक्ति भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य है। अनुकूल वान्धव या प्रतिकूल शत्रु जब चारित्र का विनाश करने वाले बन जायें, भयानक दुर्भिक्ष पड़ जाये या व्यक्ति जंगल में भटक गया हो। जिसकी चक्षु या श्रोत्रेन्द्रिय दुर्बल हो गई हो, जो जंघा-बल से हीन हो अथवा विहार करने में समर्थ न हो, वह व्यक्ति भक्तप्रत्याख्यान के योग्य है।[6]

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार भी यदि उपसर्ग, अकाल, बुढ़ापा या रोग उपस्थित हो जाये और उसका प्रतिकार करना संभव न हो तो धर्म की रक्षा के लिए शरीर के त्याग रूप सल्लेखना को धारण करना चाहिए। उनके अनुसार सल्लेखना का आश्रय लेना ही जीवन भर की तपस्या का फल है।[7] लाटी संहिता में भी व्रती श्रावक को मरण समय में अवश्य धारण करने योग्य मानते हुए जीर्ण आयु, घोर उपसर्ग एवं असाध्य रोग को सल्लेखना का हेतु कहा गया है।[8]

पुरुषार्थानुशासन में प्रतीकार रहित रोग के उपस्थित हो जाने पर दारुण उपसर्ग के आ जाने पर अथवा दुष्ट चेष्टा वाले मनुष्यों के द्वारा संयम के विनाशक कार्य प्रारंभ करने पर, जल-अग्नि आदि का योग मिलने पर अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई मृत्यु का कारण उपस्थित होने पर या ज्योतिष सामुद्रिक आदि निमित्तों से अपनी आयु का अन्त समीप जानने पर कर्तव्य के जानकार व्यक्ति को सल्लेखना धारण करने का अर्ह कहा गया है।[9] सल्लेखना की अर्हता के विषय में यशस्तिलक-चम्पू गत उपासकाध्ययन, चारित्रसार, उमास्वामिश्रावकाचार, हरिवंश-पुराणगत श्रावकाचार आदि ग्रन्थों का भी यही मत हैं।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् शरीर धर्मसाधना का प्रथम साधन है। किसी भी धार्मिक क्रिया की सम्पन्नता स्वस्थ शरीर के विना संभव नहीं है। अतः जब तक शरीर धर्मसाधना के अनुकूल रहे तव तक उसके माध्यम से मोक्षमार्ग को प्रशस्त करना चाहिए। किन्तु यदि धर्मसाधना के प्रतिकूल हो जाये तो सल्लेखना धारण कर धर्म की रक्षा करना चाहिए।

सल्लेखना की विधि

श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में सल्लेखना धारण करने की विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है। आचार्य समन्तभद्र का कथन है कि

सल्लेखना धारण करते हुए कुटुम्ब, मित्र आदि से स्नेह दूर कर, शत्रुओं से बैरभाव हटाकर, बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का त्यागकर, शुद्ध मन वाला होकर, स्वजन एवं परिजनों को क्षमा करके, प्रिय वचनों के द्वारा उनसे भी क्षमा मांगे तथा सब पापों की आलोचना करके सल्लेखना धारण करे। क्रमशः अन्नाहार को घटाकर दूध, छांछ, उष्ण जल आदि को ग्रहण करता हुआ उपवास करे। अन्त में पञ्चनमस्कार को जपते हुए सावधनी पूर्वक शरीर को त्यागे।[10] श्री सोमदेव सूरि का कहना है कि सल्लेखनाधारी को उपवासों द्वारा शरीर को तथा ज्ञानभावना द्वारा कषायों को कृष करना चाहिए।[11] वसुनन्दिश्रावकाचार, श्रावकाचारसारोद्धार, चारित्रसार एवं पुरुषार्थानुशासन आदि श्रावकाचारविषयक ग्रन्थों में सल्लेखना की विधि में रत्नकरण्डश्रावकाचार का ही अनुकरण किया गया है।

भगवती आराधना में भक्तप्रत्याख्यान (सल्लेखना) के इच्छुक यति को निर्यापकाचार्य की खोज का निर्देश किया गया है। वहाँ कहा गया है कि समाधि की कामना करने वाला यति पाँच सौ, छह सौ, सात सौ योजन अथवा उससे भी अधिक जाकर शास्त्र सम्मत निर्यापक की खोज करता है। वह यति एक अथवा दो अथवा तीन आदि बारह वर्ष पर्यन्त खेदखिन्न न होता हुआ जिनागम सम्मत निर्यापक की खोज करता है।[12]

सामान्यतः सर्वभयों के उपस्थित न होने पर भी जो मुनि मरण की इच्छा करता है, उसे मुनिपने से विरक्त कहा गया है।[13] तथापि अपराजित सूरि का कथन है कि यदि भविष्य में निर्यापक का मिलना असंभावित लग रहा हो तो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण कर सकता है। वे लिखते हैं- "इदानीमहं यदि न त्यागं कुर्यां निर्यापकाः पुनः न लप्स्यन्ते सूरयस्तदभावे नाहं पण्डितमरणमाराधयितुं शक्नोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानार्ह एव।"[14] अर्थात् जिस मुनि का चारित्र पालन सुखपूर्वक निरतिचार हो रहा हो तथा निर्यापक भी सुलभ न हो और जिसे दुर्भिक्ष आदि का भय भी न हो, ऐसा मुनि यद्यपि

भक्तप्रत्याख्यान के अयोग्य है, तो भी 'इस समय यदि में भक्तप्रत्याख्यान न करूँ और आगे कदाचित् निर्यापकाचार्य न मिले तो मैं पण्डितमरण की आराधना नहीं कर सकूँगा' ऐसा जिस मुनि को भय हो तो वह मुनि भक्त प्रत्याख्यान के योग्य है।

सल्लेखना की अवधि

भगवती आराधना में भक्तप्रत्याख्यान की उत्कृष्ट अवधि का कथन करते हुए कहा गया है-

'उक्कस्सएण भत्तपइण्णकालो जिणेहिं णिद्दिट्ठो।
कालम्मि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि।।'15

अर्थात यदि आयु का काल अधिक शेष हो तो जिनेन्द्र भगवान ने उत्कृष्ट रूप से भक्तप्रत्याख्यान का काल बारह वर्ष का कहा है।

बारह वर्ष प्रमाण कायसल्लेखना के क्रम का विवेचन करते हुए कहा गया है कि वह नाना प्रकार के कायक्लेशों के द्वारा चार वर्ष बिताता है। दूध आदि रसों को त्यागकर फिर भी चार वर्ष तक शरीर को सुखाता है। आचाम्ल और निर्विकृति द्वारा दो वर्ष बिताता है। फिर आचाम्ल के द्वारा एक वर्ष बिताता है। शेष एक वर्ष के छः माह मध्यम तप के द्वारा तथा छः माह उत्कृष्ट तप के द्वारा बिताता है। आहार, क्षेत्र, काल और अपनी शारीरिक प्रकृति को विचार कर इस प्रकार तप करना चाहिए, जिस प्रकार वात, पित्त एवं कफ क्षोभ को प्राप्त न हों।

धवला में भक्तप्रत्याख्यान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट काल बारह वर्ष तथा मध्यम काल इन दोनों का अन्तरालवर्ती कहा गया है।[18] चारित्रसार में भी सल्लेखना के काल का इसी प्रकार कथन है।[19]

सल्लेखना का साधक

मुनि और श्रावक दोनों ही सल्लेखना की साधना के अधिकारी हैं।

भक्तप्रत्याख्यान आदि त्रिविध पण्डितमरण मुनियों के ही होते हैं- यह बात भगवती आराधना की निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है-

'पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स।।'[20]

अर्थात् पादोपगमन मरण, भक्तप्रतिज्ञा मरण और इंगिनीमरण ये तीन पण्डितमरण हैं। ये तीनों शास्त्रोक्त चारित्र पालन करने वाले साधु के होते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के धारक श्रावक को मारणान्तिकी सल्लेखना का आराधक कहा गया है।[21] जब कोई अव्रती श्रावक व्रती होकर जीवन को बिताना चाहता है तो उसे जिस प्रकार बारह व्रतों का पालन करना आवश्यक होता है उसी प्रकार जब व्रती श्रावक मरण के समय धर्मध्यान में लीन रहना चाहता है तो उसे सल्लेखना की आराधना आवश्यक हो जाती है। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्र में सल्लेखना का कथन श्रावक धर्म के प्रसंग में हुआ है, किन्तु यह मुनि और श्रावक दोनों के लिए निःश्रेयस् का साधन है। राजवार्तिक में तो स्पष्ट रूप से कह दिया गया है-

'अयं सल्लेखना विधिः न श्रावकस्यैव दिग्विरत्यादिशीलवतः। किं तर्हि संयतस्यापीति अविशेष ज्ञापनार्थत्वाद् वा पृथगुपदेशः कृतः।'[22] अर्थात् यह सल्लेखना विधि शीलव्रत धारी श्रावक की ही नहीं है, किन्तु महाव्रती साधु के भी होती है। इस नियम की सूचना पृथक् सूत्र बनाने से मिल जाती है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा गया है कि 'मैं मरणकाल में अवश्य समाधिमरण करूँगा' श्रावक को ऐसी भावना नित्य भाना चाहिए।[23]

पं. गोविन्दकृत पुरुषार्थानुशासन में तो अव्रती श्रावक को भी सल्लेखना का पात्र माना गया है। वे लिखते हैं कि यदि अव्रती पुरुष भी समाधिकरण करता है तो उसे सुगति की प्राप्ति होती है तथा यदि व्रती श्रावक भी असमाधि में मरण करता है तो उसे दुर्गति की प्राप्ति

होती है।[24] न केवल मनुष्य ही अपितु पशु भी समाधिमरण के द्वारा आत्मकल्याण कर सकता है। उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अत्यन्त क्रूर स्वभाव वाला सिंह भी मुनि के वचनों से उपशान्त चित्त होकर और संन्यास विधि से मरकर महान् ऋद्धिवान देव हुआ। तत्पश्चात् मनुष्य एवं देव होता हुआ अन्त में राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी के वर्धमान नामक पुत्र हुआ।[25]

स्पष्ट है कि सल्लेखना सबके लिए कल्याणकारी है तथा प्रीतिपूर्वक सल्लेखना की आराधना करने वाले मुनि, व्रती श्रावक, अव्रती श्रावक तथा तिर्यंच भी सल्लेखना की साधना करते हैं। किन्तु सिद्धान्तः तो तत्वार्थराजवार्तिक का यह कथन सर्वथा ध्येय है।- "सप्तशीलव्रतः कदाचित् कस्यचित् गृहिणः सल्लेखनाभिमुख्यं न सर्वस्येति।"[26] अर्थात् सात शीलव्रतों का धारण करने वाला कभी कोई एकाध गृहस्थ के ही सल्लेखना की अभिमुखता होती है, सबके नहीं। अतः मुख्यता साधुओं के ही समझना चाहिए।

सल्लेखना के योग्य स्थान एवं समय

पण्डितप्रवर आशाधर के अनुसार जन्मकल्याणक स्थल, जिनमन्दिर, तीर्थस्थान और निर्यापकाचार्य के सान्निध्य वाला स्थल सल्लेखना के उपयुक्त स्थान हैं।[27]

भगवती आराधना में सल्लेखना के उपयुक्त समय का कथन करते हुए कहा गया है-

"एवं वासारत्ते फासेदूण विविधं तवोकम्मं।
संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहारम्मि।।"[28]

अर्थात् वर्षाकाल में नाना प्रकार के तप करके सुख विहार वाले हेमन्त ऋतु में सल्लेखना का आश्रय लेता है। हेमन्त ऋतु में अनशन आदि करने पर महान् परिश्रम नहीं होता, सुख पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान हो जाता है। इसी कारण इस हेमन्त ऋतु को सुखविहार कहा गया है।

सल्लेखना का महत्त्व एवं फल

भगवती आराधना में सल्लेखना (भक्तप्रत्याख्यान) के महत्त्व एवं फल का कथन करते हुए लिखा है कि वे व्यक्ति स्वर्गों में उत्कृष्ट भोगों को भोगकर च्युत होने पर मनुष्य भव में जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। फिर उसे त्यागकर जिनोपदिष्ट धर्म का पालन करते हैं वे शास्त्रों का अनुचिन्तन करते हैं, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा; संवेग और शक्ति सम्पन्न होते हैं। परीषहों को जीतते हैं, उपसर्गों को निरस्त करते हैं, उनसे अभिभूत नहीं होते हैं। इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करके ध्यान में मग्न होकर सक्लेशयुक्त अशुभ लेश्यओं का विनाश करते हैं। अन्त में शुक्ल लेश्या से सम्पन्न होकर शुक्ल ध्यान के द्वारा संसार का क्षय करते हैं तथा कर्मों के कवच से मुक्त हो, सब दुःखों को दूर करके मुक्ति को प्राप्त होते हैं।[29]

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार जीवन के अन्त में धारण की गई सल्लेखना से पुरुष दुःखों से रहित हो निःश्रेयस् रूप सुख सागर का अनुभव करता है, अहमिन्द्र आदि को पद को पाता है तथा अन्त में मोक्ष सुख को भोगता है।[30] अमृतचन्द्राचार्य ने सल्लेखना को धर्म रूपी धन को साथ ले जाने वाला कहा है।[31] श्री सोमदेवसूरि ने सल्लेखना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सल्लेखना के विना जीवन भर का यम, नियम, स्वाध्याय, तप, पूजा एवं दान निष्फल है। जैसे एक राजा ने बारह वर्ष तक शस्त्र चलाना सीखा किन्तु युद्ध के अवसर पर शस्त्र नहीं चला सका तो उसकी शिक्षा व्यर्थ रही, वैसे ही जो जीवन भर व्रतों का आचरण करता रहा किन्तु अन्त में मोह में पड़ा रहा तो उसका व्रताचरण निष्फल है।[32] लाटी संहिता में कहा गया है कि वे ही श्रावक धन्य हैं, जिनका समाधिमरण निर्विघ्न हो जाता है।[33] उमास्वामि श्रावकाचार, श्रावकाचारसारोद्धार, पुरुषार्थानुशासन, कुन्दकुन्दश्रावकाचार, प. पद्मकृत श्रावकाचार तथा प. दौलतरामकृत क्रियाकोष में सल्लेखना को जीवन भर के तप, श्रुत एव व्रत का फल तथा महार्द्धिक देव एव इन्द्रादिक पदों को

प्राप्त कराने वाला कहा गया है।[34]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनधर्म में सल्लेखना साधक की जीवन भर की साधना का निकष है। यह तप, श्रुत, व्रत आदि का फल है। इसका परिणाम सुगति की प्राप्ति है। क्षु. श्री जिनेन्द्र वर्णी के शब्दों में "सल्लेखना वास्तव में शान्ति के उपासक की आदर्श मृत्यु है। एक सच्चे वीर का महान् पराक्रम है। इससे पहले कि शरीर जवाब दे, वह स्वयं समतापूर्वक उसे जवाब दे देता है और अपनी शान्ति की रक्षा में सावधान रहता हुआ उसी में विलीन हो जाता है।"[35] सल्लेखना जीवन के परम सत्य मरण का हँसते-हँसते वरण है। मृत्यु से निर्भयता का कारण है। पं. सूरजचन्द जी समाधिमरण में कहते हैं-

"मृत्युराज उपकारी जिय को,
तन से तोहि छुड़ावै।
नातर या तन बन्दीगृह में,
पर्‌यो पर्‌यो विललावै।।"

हम सबको समाधिमरण प्राप्त हो, इसी पवित्र भावना के साथ विराम।

सन्दर्भ :

1. सर्वार्थसिद्धि, 7/22
2. व्रतोद्योतनश्रावकाचार, 124
3. वसुनन्दिश्रावकाचार, 211-212
4. सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया या बाहिरा चेव।
   अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे।। – भगवती आराधना, 208
5. पञ्चास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति
6. भगवती आराधना, 70-72
7. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 122-123
8. लाटी सहिता, 232-233
9. पुरुषार्थानुशासन, 99-100

10. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 124-128
11. उपासकाध्ययन, 863
12. भगवती आराधना, 403-404
13. तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरणं पच्छिंतो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो।। वही, 75
14. वही 74 एवं विजयोदया टीका, 74
15. वही, 254
17. भगवती आराधना 255-257
18. धवला 1/1/1
19. चारित्रसार, 154
20. भगवती आराधना, 28
21 तत्त्वार्थ सूत्र, 7/20-22
22. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7/22
23 पुरुपार्थसिद्ध्युपाय, 176
24. पुरुपार्थानुशासन, 6/113
25. वही, 6/114-116
26 तत्त्वार्थगजवार्तिक, 7/22
27. सागरधर्मामृत, 8/23
28. भगवती आराधना, 630
29. वही, 1936-1939
30. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 130-131
31. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, 175
32 उपासकाध्ययन, 865-866
33. लाटीसंहिता, 5/235
34. दृष्टव्य- उमास्वामिश्रावकाचार, 463 श्रावकाचारसारोद्धार, 3/151
पुरुपार्थानुशासन, 6/111, कुन्दकुन्दश्रावकाचार 12/4 आदि
35 मुक्तिपथ के बीज

– रीडर, संस्कृत विभाग
एस.डी. कॉलेज मुजफ्फरनगर

पचास वर्ष पूर्व

नयों का विश्लेषण

– पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य

1. प्रमाण-निर्णय

"प्रमाणनयैरधिगमः" यह तत्वार्थसूत्र के पहिले अध्याय का छठा सूत्र है। इसमें पदार्थो के जानने के साधनों का प्रमाण और नयके रूप में उल्लेख किया गया है। आगे चल कर इसी अध्याय में "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" (सू. 9) और "तत्प्रमाणे" (सूत्र 10) इन सूत्रों द्वारा ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान ये पांच भेद ज्ञान के हैं। इनका ही प्रमाण रूप से उल्लेख किया गया है।

जैनधर्म की मान्यता के अनुसार मनुष्य, पशु आदि जगत् के सब प्राणियों में वाह्य शरीर के साथ संवद्ध परिणामी नित्य एवं अदृश्य आत्मनामा वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व है और यह आत्मा प्रत्येक प्राणी में अलग-अलग है, इसके सद्भाव से ही प्राणियों के शरीर में भिन्न-भिन्न तरह के विशिष्ट व्यापार होते रहते हैं और इसके शरीर से अलग होते ही वे सब व्यापार बंद हो जाते हैं।

इस आत्मा में एक ऐसी शक्ति विशेष स्वभावतः जैन-धर्म मानता है, जिसके द्वारा प्राणियों को जगत के पदार्थो का ज्ञान हुआ करता है। इस शक्ति विशेष को उसने आत्मा का 'ज्ञानगुण' नाम दिया है और इसको भी आत्मा में अलग-अलग माना है। साथ ही, इस ज्ञानगुण को ढकने वाली अर्थात् प्राणियों को पदार्थ ज्ञान न होने देने वाली वस्तुविशेष का संबन्ध[1] भी प्रत्येक आत्मा के साथ उसने कबूल किया है और इसे ज्ञानावरणकर्म[2] नाम दिया है इस कर्म के भी पांचो ज्ञानों के प्रतिपक्षी पांच[3] भेद उसने कबूल किये हैं जिनके नाम ये हैं–मतिज्ञानावरण,

श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

जिस ज्ञानावरण कर्म के अभाव से आत्मा के ज्ञानगुण का मतिज्ञानरूप से विकास हो अथवा जो आत्मा के ज्ञानगुण का मतिज्ञान रूप से विकास न होने दे उसे मतिज्ञानावरण कर्म कहते हैं। इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण का स्वरूप समझना चाहिये।

इन पांचों ज्ञानावरण कर्मों के अभाव से आत्मा के ज्ञानगुण का क्रम से जो मतिज्ञानादि रूप विकास होता है इस विकास को जैनधर्म में 'ज्ञानलब्धि'[4] नाम दिया गया है। इस ज्ञानलब्धि के द्वारा ही मनुष्य, पशु आदि सभी प्राणियों को पदार्थो का ज्ञान हुआ करता है। और प्राणियों को होने वाले इस प्रकर के पदार्थ ज्ञान को जैनधर्म में 'ज्ञानोपयोग'[5] संज्ञा दी गयी है।

शरीर के अंगभूत बाह्य स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पांच इन्द्रियों और मन की सहायता[6] से प्राणियों को जो पदार्थो का ज्ञान हुआ करता है वह मतिज्ञानोपयोग कहलाता है और इसमें कारणभूत ज्ञानगुण के विकास को 'मतिज्ञानलब्धि' समझना चाहिये अर्थात् ज्ञाता में मतिज्ञान वरण कर्म के अभाव से पैदा हुआ आत्मा के ज्ञानगुण का मतिज्ञान-लब्धिरूप विकास ही पदार्थ का सान्निध्य पाकर पांच इन्द्रियों तथा मन की सहायता से होने वाले पदार्थ ज्ञानरूप मतिज्ञानोपयोग में परिणत हो जाया करता है। इसके इन्द्रियादि निमित्तों की अपेक्षा दश[7] भेद माने गये हैं—स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, नासिकेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, नेत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान।

शब्द-श्रवण[8] पूर्वक श्रोता को मन की[9] सहायता से जो सुने हुए शब्दों का अर्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञानोपयोग कहलाता है और इसमें

कारणभूत ज्ञानगुण के विकास को 'श्रुतज्ञानलब्धि' समझना चहिये अर्थात् श्रोता में श्रुतज्ञानावरणकर्म के अभाव से पैदा हुआ आत्मा के ज्ञानगुण का श्रुतज्ञानलब्धि रूप विकास ही वक्ता के शब्दों को सुनते ही मन की सहायता से होने वाले शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञान में परिणत हो जाया करता है।

ये दोनों मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ऐन्द्रियिक ज्ञान माने गये है; कारण कि मतिज्ञान पूर्वोक्त प्रकार से पांच इन्द्रियों और मन की सहायता से और श्रुतज्ञान अंतरंग इन्द्रिय स्वरूप मन की सहायता से हुआ करता है। श्रुतज्ञान और मानस-प्रत्यक्षरूप **मतिज्ञान** में इतना अन्तर है कि श्रुतज्ञान में श्रोता को वक्ता के शब्द सुनने के बाद उन शब्दों के प्रतिपाद्य अर्थ का ज्ञान मन की सहायता से होता है और मानस-प्रत्यक्ष रूप मतिज्ञान में शब्द-श्रवण की अपेक्षारहित साक्षात् पदार्थ का ही ज्ञान ज्ञाता को मन की सहायता से हुआ करता है। पदार्थज्ञान में शब्दश्रवण को कारण मानने की वजह से ही श्रुतज्ञान को श्रुत नाम दिया गया[11] है।

अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान अतीन्द्रिय माने गये हैं; क्योंकि इन तीनों ज्ञानों में इन्द्रियादि बाह्य निमित्तों की सहायता की अपेक्षा जैनधर्म ने नहीं मानी है। इनके विषय मे जैनधर्म की मान्यता यह है कि ज्ञाता में अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्मो के अभाव से पैदा हुआ आत्मा के ज्ञान गुण का क्रम से अवधिज्ञानलब्धि, मनःपर्ययज्ञानलब्धि और केवलज्ञानलब्धि रूप विकास ही पदार्थ का सान्निध्य पाकर बाह्य इन्द्रियादिक की सहायता के बिना ही स्वभावतः अवधिज्ञानोपयोग, मनःपर्ययज्ञानोपयोग और केवलज्ञानोपयोग रूप परिणत हो जाया करता है।

जैनधर्म में इन पांचों प्रकार की ज्ञानलब्धियों और पांचों प्रकार के ज्ञानोपयोगों को प्रमाण माना गया है, इसलिये प्रमाण कहे जाने वाले ज्ञान के उल्लिखित पांच भेद ज्ञानलब्धि और ज्ञानोपयोग दोनो के

समझना चाहिये। चूंकि ज्ञानलब्धि ज्ञानोपयोग में अर्थात् पदार्थज्ञान में कारण है इसलिये पदार्थज्ञानरूप फल की अपेक्षा ज्ञानलब्धि को प्रमाण कहा गया है और ज्ञानोपयोग अर्थात् पदार्थज्ञान होने पर ज्ञाता जाने हुए पदार्थ को इष्ट समझ कर ग्रहण करता है, अनिष्ट समझ कर छोड़ता है तथा इष्टानिष्ट कल्पना के अभाव में जाने हुए पदार्थ को न ग्रहण करता है और न छोड़ता है बल्कि उसके प्रति वह माध्यस्थरूप वृत्ति धारण कर लेता है इसलिये ग्रहण, त्याग और माध्यस्थ वृत्तिरूप फल की अपेक्षा ज्ञानोपयोग को भी प्रमाण माना गया है। जैनधर्म का दर्शन मुख्यरूप से इस ज्ञानोपयोग को[12] ही प्रमाण मानता है।

2. प्रमाण के भेद स्वार्थ और पदार्थ[13]

मति आदि ज्ञानावरण–कर्मो के अभाव से होने वाला आत्मा के ज्ञानगुण का मति आदि ज्ञानलब्धिरूप विकास स्व अर्थात् अपने आधारभूत ज्ञाता के ही पदार्थज्ञान रूप ज्ञानोपयोग में कारण है इसी प्रकार पदार्थज्ञान रूप ज्ञानोपयोग भी स्व अर्थात् अपने आधारभूत ज्ञाता की ही ज्ञातपदार्थ में ग्रहण, त्याग और माध्यस्थभावरूप प्रवृत्ति में कारण होता है इसलिये ज्ञानलब्धि और ज्ञानोपयोगरूप दोनों प्रकार के ज्ञानों को स्वार्थप्रमाण कहा गया है लेकिन स्वार्थप्रमाण के अतिरिक्त नाम का भी प्रमाण जैनधर्म में स्वीकार किया गया है वह श्रोता को होने वाले शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञान में कारणभूत वक्ता के मुख से निकले हुए वचनों के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता है अर्थात् वक्ता के मुख से निकले हुए वचन ही श्रोता के शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञान में कारण होने की वजह से पदार्थप्रमाण कहे जाते हैं। चूंकि वचन प्रमाणभूत श्रुतज्ञान में कारण है इसलिये उपचार से वचन को भी प्रमाण मान लिया गयाा है और चूंकि शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञान का आधार श्रोता होता है और उसमें कारणभूत वचनों का उच्चारण का आधारभूत वक्ता से भिन्न श्रोता के ज्ञान में कारण होने की वजह से वचन को परार्थप्रमाण कहते

और कहीं किसी महावाक्य के अवयव होकर भी ये दोनों वाक्य और महावाक्य प्रयुक्त किये जाते हैं। जहां ये स्वतंत्र रूप से अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ होते हैं वहां इनका प्रयोग स्वतंत्र होता है और जहाँ ये अर्थ का प्रतिपादन न करके केवल अर्थ के अंश का प्रतिपादन करते है वहां ये किसी महावाक्य के अवयव होकर प्रयुक्त किये जाते है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पद अर्थ के अंश का ही प्रतिपादक होता है और वाक्य तथा महावाक्य कहीं अर्थ का और कहीं अर्थ के अंश का भी प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार परार्थश्रुत अपने आप दो भेदों में विभक्त हो जाता है–एक अर्थ का प्रतिपादक परार्थश्रुत और दूसरा अर्थ के अंश का प्रतिपादक परार्थश्रुत। इनमें से अर्थ का प्रतिपादक परार्थश्रुत वाक्य और महावाक्य के भेद से दो प्रकार का होता है और अर्थ के अंश का प्रतिपादक पदार्थश्रुत पद, वाक्य और महावाक्य के भेद से तीन प्रकार का समझना चाहिये। इन्हीं दोनों की क्रम से प्रमाण और नय संज्ञा मानी गयी हैं अर्थात् अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वाक्य और महावाक्य प्रमाण-कोटि में और अर्थ के अंश का प्रतिपादन करने वाले पद, वाक्य और महावाक्य नय-कोटि में अन्तर्भूत होते हैं। क्योंकि प्रमाण को सकलादेशी[19 I] अर्थात् अनेक धर्मो-अंशों की पिंडभूत वस्तु को विषय करने वाला और नय को विकलादेशी[19 II] अर्थात् अनेक धर्मो की पिडभूत वस्तु के एक-एक धर्म विषय करने वाला माना गया है। अथवा यों कह सकते हैं कि जो वचन विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करता है वह प्रमाण और जो वचन विवक्षित अर्थ के एक देश का प्रतिपादन करता है वह नय कहलाता है। जैसे, पानी की जरूरत होने पर स्वामी नौकर को आदेश देता है–'पानी लाओ।' नौकर भी इस एक ही वाक्य से अपने स्वामी के अर्थ को समझ कर पानी लाने के लिये चल देता है, इसलिये यह वाक्य प्रमाण वाक्य कहा जायगा और इस वाक्य में प्रयुक्त 'पानी' और 'लाओ' ये दोनों पद स्वतंत्र रूप से अर्थ का प्रतिपादन करने मे समर्थ नहीं हैं, बल्कि अर्थ के एक-एक अंश का प्रतिपादन करने वाले है, इसलिये इन दोनों पदों को नय-पद कहेंगे।

यहां पर इस बात पर भी ध्यान रखने की जरूरत है कि जब तक ये दोनों पद एक वाक्य के अवयव बने रहेंगे तब तक ही नयपद कहे जावेंगे और यदि इनको एक दूसरे पद से अलग कर दिया जाय तो उस हालत में ये प्रमाण रूप तो होंगे ही नहीं क्योंकि ऊपर कहे अनुसार पद प्रमाण रूप नहीं होता है, लेकिन उस स्वतन्त्र हालत में ये दोनों पद नय रूप भी नहीं कहे जावेंगे। कारण कि, अर्थ की अनिश्चितता के सबब ये अर्थ के एक अंशका भी उस हालत में प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

दूसरा उदाहरण महावाक्य का दिया जा सकता है; जैसे स्वामी नौकर को आदेश देता है–"लोटा ले जाओ और पानी लाओं" यहां पर विवक्षित अर्थ दो वाक्यां से प्रकट होता है इसलिये दोनों वाक्यों का समुदाय रूप महावाक्य प्रमाणवाक्य कहा जायेगा और दोनों वाक्य उसके अवयव होने के कारण विवक्षित अर्थ के एक-एक अंश का प्रतिपादन करते हैं इसलिये नय वाक्य कहलावेंगे। यहां पर भी वह बात ध्यान देने लायक है कि जब तक ये दोनों वाक्य एक महावाक्य के अवयव हैं तब तक तो वे नयवाक्य रहेंगे और यदि इन दोनों वाक्यों को एक दूसरे वाक्य से अलग कर दिया जाय तो उस हालत में ये प्रमाण वाक्य रूप हो जावेंगे क्योंकि वाक्य स्वतंत्र रूप से भी प्रयोगार्ह होता है जैसा कि इस उदाहरण में जो वाक्य महावाक्य का अवयव होने के कारण नय वाक्य रूप से दिखलाया गया है वही पहिले उदाहरण में स्वतंत्र वाक्य होने के कारण प्रमाण वाक्य रूप से दिखलाया गया है।

एक और उदाहरण महावाक्य का देखिये–एक विद्वान किसी एक विषय का प्रतिपादक एक ग्रन्थ लिखता है और उस विषय के भिन्न-भिन्न दश अंगो के प्रतिपादक दश अध्याय या विभाग उस ग्रन्थ के कर देता है। यहाँ पर समूचा ग्रंथ तो प्रमाणवाक्य माना जायेगा क्योंकि वह विवक्षित विषय का प्रतिपादक है और उसके अंगभूत दशों अध्यायों को नयवाक्य कोटि में लिया जायगा; क्योंकि वे विवक्षित विषय के एक-एक अंश का प्रतिपादन करते हैं। यहां पर भी जब तक ये दश

अध्याय ग्रन्थ के अवयव रहेंगे तब तक नयवाक्य कहलावेंगे और यदि उन्हें अपने-अपने विषय का प्रतिपादन करने वाले स्वतंत्र-ग्रन्थ से पृथक्-मान लिये जायँ तो उस हालत में ये दशों अध्याय अलग-अलग प्रमाणवाक्य कहलाने लगेंगे।

ज्ञान अपने आप में एक अखंड वस्तु है, इसलिये ज्ञानरूप स्वार्थप्रमाण में नय का विभाग संभव नहीं है। यही सबब है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यज्ञान और केवलज्ञान इन चारों ज्ञानों को प्रमाणरूप ही माना गया है—नयरूप नहीं। लेकिन स्वार्थप्रमाणभूत श्रुतज्ञान में चूंकि वाक्य और महावाक्यरूप परार्थप्रमाण को कारण माना गया है। इसलिये पदार्थप्रमाण में बतलाई गयी नय व्यवस्था की अपेक्षा स्वार्थश्रुत प्रमाणरूप श्रुतज्ञान में भी नय-परिकल्पना संभव है। अतः विवक्षित पदार्थ के अंश का प्रतिपादन करने वाले, वाक्य और महावाक्य के अवयव स्वरूप पद, वाक्य और महावाक्य द्वारा श्रोता को जो अर्थ के अंश का ज्ञान होता है वही नय कहलायेगा। इस तरह पदार्थश्रुत के समान स्वार्थश्रुत को भी प्रमाण और नय के भेद से दो प्रकार का समझना चाहिये।

4. प्रमाण-नयविषयक शंका-समाधान

शंका-अनेक धर्मो की पिंड स्वरूप वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रमाण माना गया है लेकिन इन्द्रियों से होने वाला मतिज्ञानरूप पदार्थज्ञान अनेक धर्मो की पिंड स्वरूप वस्तु का ग्राहक नहीं होता है—नेंत्रों से हमें रूपविशिष्ट ही वस्तु का ज्ञान होता है उस वस्तु में रहने वाले रसादि धर्म इस ज्ञान के विषय नहीं होते है। इसलिये प्रमाण का उल्लिखित लक्षण मतिज्ञान में घटित न होने के कारण मतिज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता है बल्कि वस्तु के एक अंश को विषय करने वाले नय का लक्षण घटित होने के कारण इसको नय मानना ही ठीक है। इसी प्रकार दूसरी रसना आदि इन्द्रियों द्वारा होने वाले रसादि ज्ञानों को प्रमाण

मानने में भी यही आपत्ति उपस्थित होती है।

समाधान—नेत्रों से हमें वस्तु के अंशभूत रूप का ज्ञान नहीं होता है बल्कि रूपमुखेन वस्तु का ही ज्ञान होता है। वस्तु चूंकि रूप, रस आदि धर्मों को छोड़ कर कोई स्वतंत्र स्वरूप वाली नहीं है इसलिये वस्तु स्वरूप सभी धर्मों का हमें रूपमुखेन ज्ञान हो जाया करता है—ऐसा समझना चाहिये। दूसरी बात यह है कि यदि हमें नेत्रों द्वारा सिर्फ वस्तु के अंश या धर्मस्वरूप रूप का ही ज्ञा ा है तो उस के फलस्वरूप होने वाली हमारी ग्रहण, त्याग और माध्य-्थरूप प्रवृत्ति सिर्फ वस्तु के अंश भूत रूप में होना चाहिये रूप विशिष्ट वस्तु में नहीं, लेकिन नेत्रों द्वारा ज्ञान होने पर होने वाली हमारी उल्लिखित प्रवृत्ति रूप विशिष्ट वस्तु में ही हुआ करती है इसलिये यही मानना ठीक है कि हमें नेत्रों द्वारा रूपमुखेन सभी धर्मों की पिंडस्वरूप वस्तु का ही ज्ञान हुआ करता है केवल वस्तु के अंशभूत रूप का नहीं। यही प्रक्रिया दूसरे ऐन्द्रियिक ज्ञानों में भी समझना चाहिये।

शंका—यदि हमें नेत्रों द्वारा रूपमुखेन समस्त धर्मों की पिंडस्वरूप वस्तु का ज्ञान हुआ करता है तो "रूप वस्तु का एक अंश है" ऐसा अनुभव हमें नहीं होना चाहिये, लेकिन होता जरूर है इसलिये यही मानना ठीक है कि नेत्रों से हमें वस्तु के रूप का ही ज्ञान होता है समस्त धर्मों की पिंडस्वरूप वस्तु का नहीं।

समाधान—"रूप अथवा रस आदि वस्तु के अंश या धर्म है" इस प्रकार का ज्ञान हमें नेत्र, रखना आदि इन्द्रियों द्वारा वस्तु का रूप विशिष्ट, रसविशिष्टादि भिन्न-भिन्न तरह का ज्ञान होने के बाद "नेत्रों द्वारा हमें वस्तु का रूपमुखेन ज्ञान होता है रसादिमुखेन नहीं," "रसना के द्वारा हमें वस्तु का रसमुखेन ज्ञान होता है रूपादिमुखेन नहीं" इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेक का ज्ञान होने पर अनुमानज्ञान द्वारा हुआ करता है अथवा दूसरे व्यक्यिों द्वारा दिये गये "रूप वस्तु का अंश या धर्म है" इस प्रकार के उपदेश से होने वाले शब्दार्थज्ञान रूप श्रुतज्ञान

द्वारा हुआ करता है, नेत्रों द्वारा नहीं।

शंका–"रूप या रसादि वस्तु के अंश या धर्म है" इस प्रकार का ज्ञान यदि अनुमान द्वारा होता है तो अनुमान भी तो मतिज्ञान का एक भेद है इसलिये अनुमान रूप मतिज्ञान वस्तु के अंश का ग्राहक होने के सबब प्रमाण कोटि में नहीं गिना जाकर नयकोटि में गिना जाना चाहिये, ऐसी हालत में मतिज्ञान को प्रमाण मानने के बारे में पूर्वोक्त आपत्ति जैसी की तैसी बनी रहती है।

समाधान–नेत्रों द्वारा हमें रूपमुखेन वस्तु का ज्ञान हो जाने पर उन दोनों में रहने वाले अवयवावयवीभाव सम्बन्ध का ज्ञान अनुमान द्वारा हुआ करता है यह संबन्ध वस्तु का अवयव नहीं, बल्कि स्वतंत्र ज्ञान का विषयभूत स्वतंत्र पदार्थ है इसलिये यह अनुमानज्ञान भी वस्तु के अंश को न ग्रहण करके स्वतंत्र वस्तु को ही ग्रहण करता है अर्थात् इस ज्ञान का विषय रूप और उसका आधार वस्तु दोनों से स्वतंत्र है; कारण कि रूप और उसका आधारभूत वस्तु का ज्ञान तो हमें नेत्रों द्वारा पहिले ही हो जाता है सिर्फ उन दोनों के संबन्धका ज्ञान जो नेत्रों द्वारा नहीं होता है वह अनुमान द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार 'रूप या रसादि वस्तुके अंश या धर्म हैं' इस प्रकार के वाक्य को सुन कर जो हमें शब्दार्थ ज्ञानरूप श्रुतज्ञान द्वारा 'रूप या रसादि वस्तु के अंश हैं' इस प्रकार का अवयवावयवी भावसंबन्ध ज्ञान हुआ करता है। वह भी प्रमाण रूप ही समझना चाहिये, नयरूप नहीं। इस विषय को आगे और भी स्पष्ट किया जायेगा।

शंका– गोम्मटसार जीवकांड में बतलाये गये श्रुतज्ञान के 'अर्थ से अर्थान्तर' का ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता[20] है इस लक्षण में अनुमानका भी समावेश हो जाता है, इसलिये श्रुतज्ञान से भिन्न अनुमान प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है।

समाधान – हम पहिले बतला आये हैं कि शब्द श्रवणपूर्वक हमें जो

अर्थज्ञान होता है वह श्रुत कहलाता है, अनुमान से जो अर्थज्ञान हमें हुआ करता है उसमें शब्द श्रवण को नियमित कारण नहीं माना गया है। पर्वत में धुआं को देख कर जो हमें अग्नि का ज्ञान हो जाया करता है। वह बिना शब्दों के सुने ही हो जाया करता है। दूसरी बात यह है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान-पूर्वक होता है। इसका अर्थ यह कि वक्ता के मुख से निकले हुए वचनों को सुन कर श्रोता पहिले वचन और अर्थ में विद्यमान वाच्य-वाचक संबन्धका ज्ञान अनुमान द्वारा करता है तब कहीं जाकर शब्द से श्रोताको अर्थज्ञान होता है यदि श्रोताको 'इस शब्द का यह अर्थ है।' इस प्रकार के वाच्यवाचक संबन्धका ज्ञान नहीं होगा तो उसे शब्दों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये अनुमान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है– ऐसा मानना ठीक है, अनुमान और श्रुतज्ञान को एक मानना ठीक नहीं। गोम्मटसार जीवकांड में जो श्रुतज्ञान का लक्षण बतलाने वाली गाथा है उसमें के दो पद महत्त्वपूर्ण[21] है। "अभिणिवोहियपुव्वं" और "सहजं"। इनमें से पहिला पद हमें यह बतलाया है कि श्रुतज्ञान अनुमानज्ञानपूर्वक हुआ करता है। कारण कि अनुमान ज्ञान का ही अपर नाम अभिबोधिक[22] ज्ञान है। दूसरा पद हमें यह बतलाता है कि चूंकि इसमें शब्द कारण[23] पड़ता है इसलिये इसे श्रुतज्ञान कहते हैं। इस पर विशेष विचार स्वतंत्र लेख द्वारा ही किया जा सकता है।

शंका– परार्थश्रुत में पद, वाक्य और महावाक्य का भेद करके जो वाक्य और महावाक्य को प्रमाण तथा इनके अवयवभूत पद, वाक्य और महावाक्य को नय स्वीकार किया गया है। प्रमाण और नय की यह व्यवस्था "पानी लाओ" इत्यादि लौकिक वाक्यों व महावाक्यों में भले ही संघटित कर दी जावे लेकिन इसका लोक-व्यवहार में कोई खास प्रयोजन नहीं माना जा सकता है। साथ ही वस्तु के स्वरूप-निर्णय में यह व्यवस्था घातक हो सकती है। जैसे वक्ता के समूचे अभिप्रायको प्रकट करने वाला वाक्य यदि प्रमाण मान लिया जाय तो बौद्धों का "वस्तु क्षणिक है" यह

वाक्य अथवा नैयायिकों का "वस्तु नित्य·है" यह वाक्य प्रमाण कोटि में आ जायेगा, जो कि अयुक्त है; कारण कि जैनमान्यता के अनुसार वस्तु न तो केवल नित्य है और न केवल अनित्य ही है बल्कि उभयात्मक है। यही सबब है कि जैन मान्यता के अनुसार वस्तु के एक एक अंश का प्रतिपादन करने वाले ये दोनों वाक्य नय-वाक्य माने गये हैं।

समाधान– जब नय को प्रमाण का अंश माना गया है। तो वचन रूप परार्थ प्रमाण का भी अंश ही नय को मानना होगा, वचनरूप परार्थ प्रमाण वाक्य और महावाक्य ही हो सकता है यह पहिले बतलाया जा चुका है, इसलिये पूर्वोक्त प्रकार वाक्य और महावाक्य के अंशभूत पद, वाक्य और महावाक्य को ही नय मानना ठीक है। लोक-व्यवहार में इसकी उपयोगिता स्पष्ट है क्योंकि पदार्थज्ञान ही से हम वाक्यार्थज्ञान कर सकते हैं और वाक्यार्थज्ञान हमें महावाक्य के अर्थज्ञान में सहायक होता है। 'वस्तु क्षणिक है' "वस्तु नित्य है" इन वाक्यों को परार्थप्रमाण मानने पर जो आपत्ति उपस्थित की गयी है वह ठीक नहीं है; क्योंकि जब वक्ता के विवक्षित अर्थ को प्रगट करने वाला वचन प्रमाण और वक्ता के विवक्षित अर्थ के एक अंश को प्रगट करने वाला वचन नय मान लिया गया है तो इन वाक्यों का प्रयोग करने वाले बौद्ध और नैयायिक के विवक्षित अर्थ को पूर्णरूप से प्रतिपादन करने वाले से वाक्य प्रमाण ही माने जायेंगे; नय नहीं माने जा सकते हैं; कारण बौद्ध और नैयायिक वस्तु को क्रम से क्षणिक और नित्य ही मानते हैं। बौद्धों की दृष्टि में वस्तु के स्वरूप में नित्यत्व और नैयायिकों की दृष्टि में वस्तु के स्वरूप में क्षणिकत्व शामिल नहीं है। इसलिये 'वस्तु क्षणिक है' इस वाक्य से प्रतिपादित क्षणिकत्व बौद्धों का विवक्षित अर्थ ही है, विवक्षित अर्थ का एक अंश नहीं, यही बात नैयायिकों के विषय में समझना चाहिये। इन वाक्यों को नयाभास भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि कि 'जो वस्तु का अंश नहीं हो सकता है उसको वस्तु का अंश मानना' ही नयाभास है; लेकिन नयाभास का यह लक्षण यहां घटित नहीं होता

है क्योंकि यहां तो क्षणिकत्व अथवा नित्यत्व जो वस्तु के अंश हैं उन्हें पूर्ण वस्तु ही मान लिया गया है अर्थात्– यहां पर अंश में अनंशं की कल्पना है, अनंश में अंश की नहीं। इसलिये बौद्ध और नैयायिकों की दृष्टि में क्रम से ये दोनों वाक्य प्रमाण-वाक्य ही हैं, नयवाक्य नहीं। जैन लोग इन लोगों की इस दृष्टि को गलत कहते हैं; क्योंकि इन लोगों ने वस्तु के अंश भूत क्षणिकत्व या नित्यत्व को पूर्ण वस्तु ही मान लिया है इसलिये अंश में अंशी की परिकल्पना होने से इसका प्रतिपादक वाक्य जैनियों की दृष्टि से प्रमाणाभास ही कहा जायगा; तात्पर्य यह है कि यदि वस्तु केवलक्षणिक या केवल नित्य नहीं है तो केवल क्षणिकत्व या केवल नित्यत्व के प्रतिपादक वाक्य प्रमाण न होकर प्रमाणाभास तो माने जा सकते हैं। उनको नय अथवा नयाभास मानना ठीक नहीं है। जैनधर्म में भी 'वस्तु क्षणिक है,' या 'वस्तु नित्य है' ऐसे स्वतंत्र स्वतंत्र वाक्य पाये जाते हैं और जब जिस धर्म की प्रधानता से वर्णन करना जरूरी होता है उसी धर्म के प्रतिपादक वाक्य का प्रयोग जैनी लोग व्यवहार में भी किया करते हैं लेकिन जैन धर्म के ग्रन्थों में या जैनियों द्वारा लोक व्यवहार में प्रयुक्त इन वाक्यों को भी – यदि ये अलग-अलग प्रयुक्त किये गये हैं– तो प्रमाण-वाक्य ही कहा जायगा नय वाक्य नहीं; कारण कि इन वाक्यों द्वारा एक धर्ममुखेन वस्तुका ही प्रतिपादन होता है। जिस प्रकार नेत्रों द्वारा रूपमुखेन वस्तुका ही बोध होने की वजह से उस ज्ञान को प्रमाण माना गया है उसी प्रकार इन वाक्यों द्वारा एक धर्ममुखेन वस्तु का ही प्रतिपादन होने की वजह से उन्हें भी प्रमाण-वाक्य ही मानना ठीक है, नयवाक्य मानना ठीक नहीं हैं। लेकिन जहाँ पर ये दोनों वाक्य वस्तु नित्य है और अनित्य है, इस प्रकार मिलाकर प्रयुक्त किये जाते हैं वहां पर दोनों वाक्यों का समुदाय भी प्रमाण-वाक्य है क्योंकि वह विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करता है और उसके अवयवभूत दोनों वाक्य नय कहे जायेंगे क्योंकि वहां पर उनसे विवक्षित अर्थ के एक अंश का ही प्रतिपादन होता है। तात्पर्य यह है कि 'वस्तु क्षणिक है' और 'वस्तु नित्य है' इन दोनों वाक्यों का स्वतंत्र प्रयोग करने पर यदि ये

वाक्य एक धर्ममुखेन वस्तुका प्रतिपादन करते हैं तो प्रमाण वाक्य माने जावेंगे। यदि इस एक धर्म को वस्तु का अंश न मानकर तन्मात्र ही वस्तु मान ली जाती है और फिर इन वाक्यों का प्रयोग किया जाता है तो यह दोनों वाक्य प्रमाणाभास माने जावेंगे। यदि इन दोनों वाक्यों का सम्मिलित प्रयोग किया जाता है और सम्मिलित होकर प्रयुक्त ये दोनों वाक्य सही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं तो ये वाक्य नय माने जावेंगे। यदि सम्मिलित होकर भी ये दोनों वाक्य गलत अर्थ का प्रतिपादन करते हैं तो नयाभास कहे जावेंगे। जैसे "द्रव्यदृष्टि से वस्तु नित्य है और पर्याय दृष्टि से वस्तु अनित्य है, यह तो नय है और पर्याय दृष्टि से वस्तु नित्य है तथा द्रव्य दृष्टि से वस्तु अनित्य है, यह नयाभास माना जायेगा इसीलिए परार्थ श्रुतका विवेचन करते समय विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वाक्य और महावाक्य को प्रमाण और विवक्षित अर्थ के एक अंश का प्रतिपादन करने वाले, वाक्य और महावाक्य के अंगभूत पद वाक्य और महावाक्य को नय मानकर जो इनका समन्वय किया गया है वह वस्तु व्यवस्था के लिए घातक नहीं, बल्कि अधिक उपयोगी है।

शंका – जिस प्रकार दो पदों का समुदाय वाक्य और दो वाक्यों का अथवा दो महावाक्यों का समुदाय महावाक्य होता है और इनके अवयव मानकर पद, वाक्य और महावाक्यों को नय वाक्य मान लिया गया है उसी प्रकार दो ज्ञानों के समुदाय को एक महा ज्ञान मानकर उसके अंश भूत एक-एक ज्ञान को नय ज्ञान भी माना जा सकता है, इसलिये स्वार्थ प्रमाण स्वरूप मतिज्ञानादिक में भी नयकल्पना मानना चाहिये।

समाधान – जिस तरह दो आदि पदों अथवा दो आदि वाक्यों या दो आदि महावाक्यों का समुदाय अनुभवगम्य है उसी प्रकार दो आदि ज्ञानों का समुदाय अनुभव गम्य नहीं है हमें नेत्रों से होने वाले रूप विशिष्ट वस्तु के ज्ञान और रसना से होने वाले रसविशिष्ट वस्तु के ज्ञान का समुदाय रूप से कभी भी अनुभव नहीं होता हैं। इसलिये स्वार्थ प्रमाण स्वरूप मतिज्ञानादि चार ज्ञानों में नय-परिकल्पना किसी भी हालत

में नहीं बन सकती है। इसलिये ये चारों ज्ञान प्रमाण रूप ही हैं। केवल श्रुतज्ञान में ही पूर्वोक्त प्रकार से प्रमाण और नयका भेद हो सकता है। सर्वार्थसिद्धिग्रंथ में "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्र की व्याख्या करते समय लिखी गयी-

"प्रमाणंद्विविधं स्वार्थं परार्थं च, तत्र स्वार्थप्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्, श्रुतं पुनः स्वार्थ भवति परार्थं च। ज्ञानात्म स्वार्थवचनात्मकं परार्थम् तद्विकल्पा नयाः" इन पंक्तियों का यही अभिप्राय है।

सन्दर्भ

1. "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः"। सू. 2
2. "प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः" आद्यो ज्ञानदर्शनावरण............" सूत्र 3-4।।
3. "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्"।। 6।। (तत्वार्थ सूत्र 8 अभ्यास)
4. 5 "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" अ. 2 सूत्र 18 (तत्वार्थ सूत्र) यहां पर ज्ञान को ही भाव नाम दिया गया है और उसे इन्द्रिय मान कर उसके लब्धि और उपयोग दो भेद मान लिये गये हैं। यद्यपि यह सूत्र सिर्फ इन्द्रियों से होने वाले मतिज्ञान के बारे में लब्धि और उपयोग की प्रक्रिया को बतलाया है परन्तु यह लब्धि और उपयोग की प्रक्रिया पांचों ज्ञानों समान समझना चाहिये।
6. "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" तत्वार्थसूत्र अ. 1 सू. 14
7. "मतिः स्मृति सञ्ज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" -तत्वार्थसूत्र अ. 1 सू. 13 यहां पर मति शब्द से स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि 6 भेदों का तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान का ग्रहण करना चाहिये।
8. "श्रुतं मतिपूर्वम्............"। -तत्वार्थसूत्र अ. 1 सू. 10
9. यहां पर 'मति' शब्द से शब्दश्रवण अर्थात् कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ही ग्रहण किया गया है।
10. "श्रुतमनिन्द्रियस्य"। -तत्वार्थसूत्र अ. 2 सू. 21
11. ".............सद्दजं पहुमं"। -गोम्मट. जीवकांड गाथा 314
12. "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्"। -परीक्षा 1-1
13. "प्रमाणं द्विविधं स्वार्थ परार्थ च"। -सर्वार्थसिद्धि 1-6
14 (i, ii). "अधिगम हेतुद्विविधः स्वाधिगमहेतु. पराधिगम-हेतुश्च, स्वाधिगम

हेतुर्ज्ञानात्मकः; पराधिगमहेतुर्वचनात्मकः" –(राजबर्तिक) 1-6। "ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्" (सर्वार्थसिद्धि) 1-6।

15. "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः" परीक्षा. 3-99
इसमें आदि शब्द से अंगुलि, लेख आदि को ही ग्रहण किया गया है तथा आगम–शब्द से श्रुतज्ञान अर्थ लिया गया है।

16. "सुप्तिङन्तं पदम्" 1/4/14–पाणिनि कृत अष्टाध्यायी

17. "पदानां परस्परसापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्"। –अष्टसहस्त्री पृष्ठ 285 पंक्ति 1

18. "वाक्योच्चयो महावाक्यम्" (साहित्यदर्पण परिच्छेद 2 श्लोक 1 का चरण 3) यहां पर "वाक्योच्चयः" पद का विशेषण "योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः" इस श्लोक की टीका में दिया गया है तब महावाक्य का लक्षण वाक्य इस प्रकार हो जाता है– "परस्परसापेक्षाणां वाक्यानां निरपेक्षसमुदायो महावाक्यम्"।
गोम्मटसार जीवकाँड में श्रुतज्ञान के जो 20 भेद गिनाये हैं इनमें अक्षर, पद और संघात अर्थात् वाक्य के बाद जो भेद गिनाये गये है उन सब को महावाक्य में ही अन्तर्भूत समझना चाहिये। कारण कि हमने मूल मे स्पष्ट किया है कि वाक्यों के समूह की तरह महावाक्यों के समूह को भी महावाक्य ही कहते हैं।

19. (i, ii). "............प्रमाणमनेकधर्मधर्मिस्वभावं सकलमादिशति".........."नयोधर्ममात्रं वा विकलमादिशति"। (तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 118 पंक्ति 10, 11 "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्र की व्याख्या) समुदाय-विषय प्रमाणमवयवविषया नया इति "सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति" –तत्वार्थराज. 1-6

20. "अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।" – जीवकॉड, गाथा 314

21. "अभिणिवोहिय पुव्वं णियमेणि ह सद्दनं पहुमं" जीवकांड, गाथा 314 (उत्तरार्ध)

22. मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्र में अनुमान ज्ञान को ही अभिनिबोध संज्ञा दी गई है।

23. तत्वार्थसूत्र और गोम्मटसार जीवकांड में जो श्रुतज्ञान के भेद बदलाये गये हैं उनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।
"श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्" त० अ० 1 सूत्र 20
"पज्जायक्खरपद संघादंपडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं चय पांहुडयं वत्थु पुव्वं च।।316।।"
– गोम्मटसार जीवकांड

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य में वर्णित तीर्थंकर पार्श्वनाथ चरित

– डॉ. हुकम चंद जैन

तीर्थंकर साहित्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य में लिखे जाते रहे हैं। 24 तीर्थंकरों के चरित साहित्य इन तीनों भाषाओं में प्रमुख रूप से मिलते हैं। न केवल इन भाषाओं में बल्कि अन्य भाषाओं में भी मिलते रहे हैं। 24 तीर्थंकरों में से केवल 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बारे में वर्णित पर ही शोध पत्र तैयार किया जा रहा है। तीर्थंकर के चरित वर्णन के पूर्व तीर्थंकर का अर्थ जान लेना आवश्यक है।

संसार सागर को स्वयं पार करने वाले तथा दूसरों को भी पार करवाने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं।[1] रत्नत्रयात्मक मोक्ष मार्ग को प्ररूपित करते हैं, वह तीर्थंकर है। जो समस्त लोगों का अद्वितीय नाथ है वह तीर्थंकर हैं। जैन लक्षणावली में तीर्थंकर के स्वरूप के बारे में कहा गया है जो क्रोध आदि कषायों के उच्छेदक केवलज्ञान से सम्पन्न संसार समुद्र के पारंगत उत्तम पंचगति को प्राप्त एवं सिद्धि पथ के उपदेशक हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं।[2] तीर्थंकरों के स्वरूप को जानने के बाद भगवान पार्श्वनाथ के चरित का वर्णन किया जा रहा है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा साहित्य में प्रथम शताब्दी से आज तक तीर्थंकर चरित लिखे जाते रहे हैं। संस्कृत भाषा में लिखा जाने वाला वादिराज का पार्श्वनाथ चरित है।

पार्श्वनाथ चरित - महाकवि वादिराज ने संस्कृत भाषा में 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ चरित लिखा है। यह ग्रंथ 11वीं शताब्दी में लिखा गया था। इसमें 12 सर्ग हैं। संस्कृत भाषा साहित्य में वर्णित यह काव्य मरुभूति एवं कमठ के जन्म-जन्मान्तर के बदले की भावना दर्शायी गई है। कमठ बार-बार मरुभूति से बदला लेता है और अंत में दुर्गति को प्राप्त करता है। इस काव्य के पूर्व जिनसेन ने नवीं शताब्दी में

पार्श्वाभ्युदय की रचना की थी किन्तु इस चरित को अत्यंत संक्षेप में वर्णित किया है। समग्र जीवन की कथावस्तु यहां नहीं आ पायी है। इसमें 4 सर्ग है तथा 364 श्लोक हैं। आचार्य जिनसेन के समय मेघदूत का क्या स्वरूप था, यह जानने के लिये पार्श्वाभ्युदय का अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें पार्श्वनाथ के अनेक जन्म-जन्मान्तरों का समावेश नहीं हो सका है। अरविन्द द्वारा बहिष्कृत कमठ सिंधु तट पर जाकर तपस्या करने लगता है। कमठ का छोटा भाई मरुभूति भातृ प्रेम के कारण इसके पास जाता है। किन्तु क्रोधवश कमठ उसको मार डालता है। अनेक जन्मों तक यही चलता रहता है। अंत में मरुभूति पार्श्वनाथ बनते हैं। कमठ उनकी तपस्या में अनेक उपसर्ग पहुँचाता है। अंत में कमठ रूप शम्बर क्षमा मांगता है। इस काव्य में शांत रस की पराकाष्ठा दिखाई देती है।[3]

पार्श्वनाथ चरित - संस्कृत भाषा में रचित माणिक्य चन्द्र सूरि ने 12 वीं शताब्दी में लिखा है। यह 10 सर्गात्मक है। अनेक रसों के साथ मुख्य रस शांत ही दिखाई देता है। काव्य अनुष्टुप छंद में लिखा गया है। सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन किये गये हैं। उनमें शार्दूलविक्रीडित, मालिनी आदि छंद हैं। यह काव्य अभी तक अप्रकाशित है। इसकी ताड़पत्रीय शांतिनाथ भण्डार खम्भात में हैं।[4] अप्रकाशित होने के कारण कथावस्तु के बारे में जानकारी नहीं है।

पार्श्वनाथ चरित - इस महाकाव्य को 13वीं शताब्दी में लिखा है। प्रथम से तृतीय सर्ग तक तीन भवों का वर्णन चार सर्ग तक जीवनचर्या, विहार, दीक्षा, केवल ज्ञान, निर्वाण प्राप्ति का वर्णन किया गया है। सर्गान्त में इसे महाकाव्य कहा गया है।[5] यह काव्य वैराग्य भावना से ओत-प्रोत है। इसलिये शांत रस प्रधान है। अनुष्टुप छंद में रचना की गई है। कुछ लोग इसे पौराणिक काव्य भी मानते हैं, क्योंकि पुराण के अनुरूप अलौकिक एवं चमत्कारिक घटनाएं प्रस्तुत काव्य में दी गई हैं।

पार्श्वनाथ पुराण - यह 23 सर्गों से युक्त है। सकल कीर्ति ने इसे

संस्कृत भाषा में लिखा है। 14-15वीं शताब्दी में रचित इस काव्य में कथा का प्रारंभ वायुभूति के जीवन के प्रारम्भ से होता है। वायुभूति का जीव ही अनेक जन्मों में की गई साधना के द्वारा पार्श्वनाथ तीर्थकर होकर निर्वाण प्राप्त करता है।

इस प्रकार 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अलावा अन्य तीर्थकर पर भी संस्कृत भाषा में अजितनाथ पुराण, शांतिनाथ चरित, मल्लिनाथ चरित, नेमिनाथ महाकाव्य, वर्द्धमान चरित, महावीर चरित लिखे गये।

पारसणाहचरियं - देवप्रभ सूरि द्वारा रचित प्राकृत भाषा में लिखित गद्य पद्यात्मक ग्रंथ है। इसमें गोवर्द्धन कृष्ण के वंशज वीर श्रेष्ठी की प्रेरणा से इस चरित ग्रंथ की रचना 11वीं शताब्दी में की थी।[6] यह कथावस्तु 5 प्रस्तावों में विभक्त है।[7] प्रथम प्रस्ताव में पार्श्वनाथ के पूर्वभवों में से दो भवों का वर्णन मिलता है। प्रथम भव में पार्श्वनाथ मंत्री मरुभूति थे। उनका भाई कमठ था। इस प्रकार पांच प्रस्तावों में सर्प, भील, सिंह, मेघमाली देवों के रूप में प्रतिशोध लेता है तथा पार्श्वनाथ केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।[8] इस चरित काव्य में विवाहोत्सव का सजीव वर्णन है। पद्य की अपेक्षा गद्यांश अत्यंत श्लिष्ठ है। विभत्स एवं शांत रस का सुन्दर निरूपण है। पंचम प्रस्ताव में चण्ड सिंह एवं भागुरायण का संवाद अत्यंत सुन्दर है।[9] पार्श्वनाथ के अलावा महावीर चरियं, सुपासनाहचरियं आदि प्राकृत चरित साहित्य लिखे गये। स्वतंत्र चरित साहित्य के अलावा अन्य कथा ग्रन्थों में भी पार्श्वनाथ के संदर्भ स्तुति रूप में मिलते हैं। संस्कृत, प्राकृत भाषा के बाद अपभ्रंश भाषा में भी तीर्थकरों में पार्श्वनाथ चरित पर काव्य लिखा गया।

पारसणाह चरिउ - इसे पद्म कीर्ति ने 9वीं, 10वीं शताब्दी में लिखा है। इसमें 18 संधि, 310 कडवक है।[10] इसमें में कवि ने परम्परागत कथानकों को ही अपनाया है। प्रथम संधि से 18 संधि में कमठ द्वारा मरुभूति पत्नी के साथ अनुचित व्यवहार, राजा के द्वारा कमठ का नगर

निर्वासन, कमठ का सर्प, सिंह, भील आदि द्वारा बदला लेना। अष्टम संधि से पार्श्वनाथ का वर्णन प्रारम्भ होता है। अष्टम से अष्टादश संधि तक द्वयसेन और वामा के गर्भरूप पार्श्वनाथ की उत्पत्ति, यवनराज के साथ पार्श्वनाथ का युद्ध, यवनराज का बंदी बनाया जाना, कुमार पार्श्व के द्वारा कमठ के जीव ब्राह्मण कुलोत्पन्न, मिथ्या तप से अलग होने की सलाह, तपस्या में लीन पार्श्वकुमार का असुरेन्द्र कमठ के जीव द्वारा उपसर्ग, नागराज द्वारा पार्श्वनाथ की रक्षा, केवल ज्ञानोत्पत्ति, असुरेन्द्र और पार्श्वनाथ की शरण में जाना एवं समवशरण का विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ में जैन सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन है। काव्य की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

पासणाह चरिउ – देवदत्त द्वारा रचित काव्य है किन्तु डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने इसका नाम मात्र ही उल्लेख किया है। इस कृति का परिचय उपलब्ध नहीं है।[11]

पासणाह चरिउ – यह विबुध श्रीधर रचित है। अपभ्रंश भाषा में लिखित पौराणिक महाकाव्य है। दूसरी कथावस्तु 12 संधियों में विभक्त है। पार्श्व की कथावस्तु परम्परागत ही है। इसकी रचना 1123 ई. में मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी रविवार को हुई थी। काव्य की दृष्टि से यह उच्च कोटि की रचना है। इसमें नदियों, नगरों आदि का भौगोलिक वर्णन है। भाषा सरस एवं अलंकारिक होने के कारण काव्य अत्यन्त रोचक बन पड़ा है।[17]

पार्श्वनाथ चरित – इस काव्य को 12वीं शताब्दी में विनयचंद सूरी ने लिखा है। यह एक महाकाव्य है। इसका कथानक भी परम्परायुक्त है। कोई भी मौलिक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन नहीं हुआ है। धार्मिक विचारों के प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन धार्मिक विचारों के प्रतिपादन के स्वरूप अनेक अवान्तर कथाओं का समावेश है। अभी तक प्रकाशित नहीं होने के कारण अवान्तर कथाओं का पता नहीं चल पाया है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियां हेमचन्द्राचार्य ज्ञान मन्दिर

पाटन में है।[13] यह छः सर्गों में लिखा गया महाकाव्य है। इसके तीन सर्गों में दान, शील, तप और भावना का महत्व भी दर्शाया गया है। इसमें अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया गया है। भाषा प्रवाहयुक्त एवं उसमें अनुप्रास की झंकृति दिखाई पड़ती है।

पार्श्वनाथ चरित – यह सर्वानंद सूरि द्वारा रचित संस्कृत भाषा में लिखा गया काव्य है। इसमें 5 सर्ग हैं। इसकी एक मात्र ताड़पत्रीय मिली है। वह भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। प्रारंभ के 156 पृष्ठ लुप्त हैं।[14] कुल 354 पृष्ठ हैं। इसका रचनाकाल 1234 ई. माना जाता है।[15] कथावस्तु के बारे में कोई उल्लेख नहीं है।

पार्श्वनाथ चरित

यह आठ सर्गों का महाकाव्य है। इसके प्रत्येक सर्ग भवांकित लिखा गया है।[16] सर्गों के नाम भी वर्ण्य विषय के नाम पर लिखे गये हैं। कथानक परम्परागत हैं। कवि ने इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया है।

पासणाह चरिउ – देवचन्द्र द्वारा रचित इस काव्य में 11 संधि और 202 कड़वक हैं। इसमें भगवान पार्श्व के पूर्वभवों के साथ उनको जीवन पर प्रकाश डाला है। यह अभी तक अप्रकाशित है। यह 1492 ई. की रचना है। इसकी एक प्रति सरस्वती भवन नागौर में है।[17]

पासणाह चरिउ – रइधू ग्रंथावली में पासणाहचरिउ ग्रंथ भी मिलता है। रइधू ने इसे 15वीं शताब्दी में लिखा है। यह ग्रंथ सात संधियों में विभक्त है। रइधू की समस्त कृतियों में यह कृति अत्यन्त श्रेष्ठ, सरल एवं रुचिकर है। पार्श्वनाथ चरित वर्णन के साथ तत्कालीन सभ्यता संस्कृति, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक स्थिति का पता चलता है। डॉ. राजाराम जी जैन ने इस पर शोध कार्य किया है। इन ग्रंथों के अलावा रिट्ठणेमिचरिउ, वड्डमाणचरिउ, चंदप्पहचरिउ, णेमिणाहचरिउ, संभवनाहचरिउ, शांतिणाहचरिउ आदि ग्रंथ लिखे गये। इसके अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी तीर्थंकर साहित्य लिखे गये हैं।

तीर्थंकर चरित में दया, क्षमा, अहिंसा, संयम, शील, तप आदि मानवीय गुणों के कारण प्राणी संरक्षण के भाव उत्पन्न हुए हैं जिनके कारण तीर्थंकर कर्म का बंधकर निर्वाण प्राप्त किया है। मानव तो ओर आसानी से इन गुणों को ग्रहण कर अपना उद्धार कर सकता है।

सह आचार्य एवं अध्यक्ष
जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग
सु.वि.वि. उदयपुर (राज.)

सदर्भः

1. वर्णी जिनेन्द्र जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग-2, पृ. 371
2. जैन लक्षणावली, भाग-2, पृ. 494
3. जैन, जयकुमार, वादिराज कृत पार्श्व चरित का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 49
4. वही, पृ. 56
5. इतिश्री कालिकाचार्य सन्तानीय श्री भावदेव सूरि विरचिते श्री पार्श्वनाथ
6. वीर सुएण य जसदेव सेट्ठिणा पारसणाह चरिहं, पृ. 503
7. जिन रत्न कोश, पृ. 244
8. जैन, जयकुमार, वादिराज कृत पार्श्वनाथ चरित का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 53-54
9. शास्त्री, नेमिचंनद्र, प्राकृत भाषा सहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 354
10. अठारह संधि एउ पुराणु, ते सट्ठि पुराणे महापुराण, पासणाहचरिउ 10/20
11. शास्त्री, देवेन्द्र कुमार, अपभ्रंश साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, पृ.56
12. जैन, जयकुमार, वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 54
13. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, पृ.121
14. वही, पृ. 122
15. जिनरत्न कोश, पृ. 245
16. सघवी पाडा भण्डार, पाटन सं. 27
17. शास्त्री, परमानंद, अपभ्रंश भाषा पासचरिउ और कविवर देवचन्द्र, लेख, अनेकान्त वर्ष 11, किरण 4-5 जून-जूलाई 1952

जैन परम्परा में भक्ति की अवधारणा

— डॉ. अशोक कुमार जैन

जैन परम्परा में ज्ञान की प्रधानता के साथ भक्ति का भी प्रमुख स्थान रहा है। आचार्य समन्तभद्र उसी को सुश्रद्धा कहते हैं जो ज्ञानपूर्वक की गई हो। उनके अनुसार ज्ञान के बल पर ही श्रद्धा सुश्रद्धा बन जाती है, अन्यथा वह अन्ध-श्रद्धा भर रह जाती है। उन्होंने ही दूसरे स्थान पर लिखा है- जिस प्रकार पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा स्वर्ण रूप हो जाता है, उसी प्रकार भगवान की भक्ति से सामान्य ज्ञान केवलज्ञान हो जाता है।[1]

भक्ति का अर्थ - भ्वादिगणीय 'भज् सेवायाम्' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर भक्ति शब्द निष्पन्न होता है। 'भक्ति' का अर्थ है भाव की विशुद्धि से युक्त अनुराग। देव, गुरु या धर्म आदि में होने वाले विशुद्ध प्रेम या अनुराग को ही भक्ति कहा जाता है। पूज्यपाद आचार्य ने 'भक्ति' की व्याख्या में लिखा है - अर्हदाचार्येषु बहुश्रतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः अर्थात् अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, बहुश्रुत, जिन-प्रवचन आदि में होने वाले विशुद्ध प्रेम, अनुराग को भक्ति कहते हैं।

भगवती आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि के अनुसार - 'अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः।' आचार्य सोमदेव ने लिखा है-

जिने जिनागमेसूरौतपः श्रुतपरायणे।
सद्भाव शुद्धि सम्पन्नोऽनुरागो भक्ति रुच्यते।।

अर्थात् जिन, जिनगाम, तप और श्रुत में परायण आचार्य में सद्भाव विशुद्धि से सम्पन्न अनुराग भक्ति कहलाता है।

भक्ति शब्द से अनुराग, प्रीति, रुचि, श्रद्धान और सम्यक्त्व भी सुने जाते हैं। जहां-जहां मनुष्यों की प्रीति होती है, श्रद्धा भी वहीं देखी जाती

है और जहां-जहां श्रद्धा होती है, मन भी वहीं स्थिर हो जाता है। आचार्य श्री पूज्यपाद ने लिखा है-

यत्रैवाहितधीः पुंसः, श्रद्धा तत्रैव जायते।।
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्तं तत्रैव लीयते।।

– समाधि शतक श्लोक 15

आचार्य नरेन्द्रसेन के अनुसार :-

देवे संघे श्रुते साधौ कल्याणादि महोत्सवैः।
निर्व्याजाराधना ज्ञेया भक्ति र्भव्यार्थसाधिका।।

– सिद्धान्तसार 1,75

दोष रहित जिनदेव, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चार प्रकार का संघ, रत्नत्रयाराधक मुनि तथा गर्भजन्मादि पांच कल्याणकों का महोत्सव इत्यादि प्रसंगों में सम्यग्दृष्टि अन्तःकरण पूर्वक इच्छा और कपट रहित जो आराधना करता है वह उसका भक्ति नामक गुण कहा जाता है। यह गुण भव्य अर्थ का अर्थात् पुण्यफलरूप संपत्ति की प्राप्ति करने वाला है। परिणामों की निर्मलता सें देवादियों पर अनुराग करना भक्ति है।

सम्यग्दर्शन और भक्ति :- मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का प्रमुख स्थान है। उसी के आधार पर जैन धर्म में सिद्धान्त और आचार आदि का विकास हुआ। संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्व के आठ गुण है। आचार्य उमास्वामि ने तत्त्व के यथार्थ श्रद्धान में सम्यग्दर्शन कहा है।[5]

उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसकी व्याख्या में देव, शास्त्र गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा, भक्ति या अनुराग के साथ जोड़ा। इससे जन-जीवन की पृष्ठभूमि से वह विशेष रूप से अनुस्यूत हुआ क्योंकि श्रद्धा, भक्ति और अनुराग से अन्तःस्थल में सहजयता सात्विक भावों का उद्भव होता है।

ये भाव जब आमुष्मिक - पारलौकिक या आध्यात्मिक भूमिका से

समायुक्त होकर अपने आराध्य के चरणों में सम्प्रेषित होते है तो संस्तुति या संस्तवन का रूप ले लेते हैं। इसका सार यह है कि भक्ति का उद्गम सम्यक्त्व (श्रद्धा) के मूलस्रोत से होता है जो अन्ततः मोक्षात्मक परम लक्ष्य तक पहुंचाता है। महाकवि वादिराज ने अपने 'एकीभावस्तोत्र' में लिखा है-

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा।
भक्तिनो चेदनवधिसुखावञ्चिका कुञ्चिकेय।।

शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो।
मुक्तिद्वारं परिदृष्ढमहा मोह मुद्रांकपाटम्।।

हे प्रभो! शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र के होने पर भी यदि असीम सुख देने वाली कुंजी स्वरूप तुम्हारी उत्कृष्ट भक्ति नहीं है तो महामोहरूपी ताले से बन्द मोक्षद्वार को मोक्षार्थी कैसे खोल सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है-

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण विसुद्धं।।

लिंग पाहुड़ गाथा 40

भक्ति ही मिथ्यात्व रूपी ताले को खोलने के लिए कुंजी (चाबी) की तरह है। जब तक यह भक्ति रूप सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता तब तक ज्ञान और चारित्र के रहते हुए भी मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है अर्थात् भक्ति, ज्ञान और चारित्र से भी श्रेष्ठ है।

भक्ति के भेद :-

1. दर्शन भक्ति :- जिनेन्द्र देव ने तत्त्वों में मन की अत्यन्त रुचि को सम्यग्दर्शन कहा है। इस सम्यग्दर्शन के दो, तीन और दस भेद बतलाये हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण के द्वारा सम्यग्दर्शन की पहचान होती है, उसके निःशंकित, निःकांक्षित आदि गुण

हैं। सम्यग्दर्शन भुवनत्रय से पूजित है, तीन प्रकार की मूढ़ता से रहित है। संसार रूपी लता का अन्त करने वाला है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि दर्शन तभी सम्यक् हो सकता है, जब जीव जिनेन्द्र का भक्त हो। उन्होंने जिनेन्द्र-भक्ति का पर्यायवाची माना है - देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति।

आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि हे देव! जिनकी आपके वचनों में एकनिष्ठ श्रद्धापूर्ण निर्मल रुचि नहीं है, जो रुचि दुष्कर्म रूपी अंक के समूह को भस्म करने के लिए वज्राग्नि के प्रकाश की तरह निर्मल हैं, वे दुर्बुद्धि कितनी ही तपस्या करें, कितना ही ज्ञानार्जन करें और कितना ही दान दें, फिर भी जन्म-परम्परा का छेदन नहीं कर सकते। और भी आगे लिखते हैं हे नाथ! संसार रूपी समुद्र के लिए सेतुबन्ध के समान, क्रम से उत्पन्न होने वाले रत्नत्रय रूपी वन के विकास के लिए अमृत के मेघ के समान, तीनों लोकों के लिए चिन्तामणि रत्न के समान और कल्याणकारी कमल समूह की उत्पत्ति के लिए तालाब में तुल्य सम्यक्त्वरूपी रत्न को जो पुण्यात्मा हृदय में धारण करता है उसे स्वर्ग और मोक्ष रूप लक्ष्मी की प्राप्ति सुलभ है।[7]

2. ज्ञान भक्ति :- इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान का विषय बहुत थोड़ा है। अवधिज्ञान भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर केवल रूपी पदार्थों को ही विषय करता है। मनःपर्यय का भी विषय बहुत थोड़ा है और वह भी किसी मुनि के हो जाय तो आश्चर्य ही है। केवलज्ञान महान है किन्तु उसकी प्राप्ति इस काल में सुलभ नहीं है। एक श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो समस्त पदार्थों को विषय करता है और सुलभ भी है। जिसे देवों ने सिर पर धारण किया, गणधरों ने अपने कान का भूषण बनाया, मुनियों ने अपने हृदय में रखा, राजाओं ने जिसका सार ग्रहण किया और विद्याधरों के स्वामियों ने अपने हाथ में, आंखों के सामने और मुख में स्थापित किया वह स्याद्वाद श्रुत रूपी कमल मेरे मानसरूपी हंस की प्रसन्नता के लिए हो। आगम में कहे हुए

तत्वों की मन में भावना करता हुआ मैं मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के पटल को दूर करने वाले, स्वर्ग और मोक्ष नगर का मार्ग बतलाने वाले तथा तीनों लोकों के लिए मंगलकारक जैन आगम को सदा नमस्कार करता हूं।[8]

3. चारित्र भक्ति :- जिसके बिना अभागे मनुष्य के शरीर में पहनाये गये भूषणों की तरह ज्ञान खेद का ही कारण होता है, तथा सम्यक्त्व रत्नरूपी वृक्ष ज्ञान रूपी फल की शोभा को ठीक रीति से धारण नहीं करता और जिसके न होने से बड़े-बड़े तपस्वी भ्रष्ट हो गये। हे देव! संयम, इन्द्रिय निग्रह और ध्यान आदि के आवास उस तुम्हारे चारित्र को मैं नमस्कार करता हूं। जो इच्छित वस्तुओं को देने के लिए चिन्तामणि है, सौन्दर्य और सौभाग्य का घर है, मोक्ष रूपी लक्ष्मी के पाणिग्रहण के लिए कंकण-बंधन है और कुल, बल और आरोग्य का संगम स्थान है अर्थात् तीनों के होने पर ही चारित्र धारण करना संभव होता है, और पूर्वकालीन योगियों ने मोक्ष के लिए जिसे धारण किया था, स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए उस पांच प्रकार के चारित्र को मैं नमस्कार करता हू।[9]

संवर का सातवां साधन चारित्र है। जिसके द्वारा हित का प्राप्ति और अहित का निवारण होता है उसे चारित्र कहते हैं। एक परिभाषा के अनुसार आत्मिक शुद्ध दशा में स्थिर होने का प्रयत्न करना चारित्र है। विशुद्धि की तारतम्यता की अपेक्षा, चारित्र पांच प्रकार का कहा गया है- सामायिक, छेदोस्थापना, परिहाविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथारव्यात।

1. सामायिक :- साम्यभाव में स्थित रहने के लिए समस्त पाप-प्रवृत्तियों का त्याग करना 'सामायिक' चारित्र है।

2. छेदोपस्थापना - गृहीत चारित्र में दोष लगने पर, उनका परिहार कर, मूल रूप में स्थापित होना 'छेदोपस्थापना' चारित्र है।

3. परिहार-विशुद्धि :- विशिष्ट तपश्चर्या से चारित्र को अधिक विशुद्ध करना 'परिहार-विशुद्धि' कहलाती है।

इस चारित्र के प्रकट होने पर इतना हल्कापन बन जाता है कि चलने-फिरने, उठने-बैठने रूपी सभी क्रियाओं को करने के बाद भी किसी जीव का घात नहीं हो पाता। परिहार का अर्थ है 'हिसादिक पापों से निवृत्ति'। इस विशुद्धि के बल से हिंसा का पूर्णतया परिहार हो जाता है अतः इसकी परिहार-विशुद्धि, यह सार्थक संज्ञा है। इस चारित्र का धनी साधु जल में पड़े कमल के पत्तों की तरह पापों से अलिप्त रहता है। यह किसी विशिष्ट साधना सम्पन्न तपस्वी को ही प्राप्त होता है।

4. सूक्ष्म-साम्पराय :- जिस साधक की समस्त कषायें नष्ट हो चुकी हैं, मात्र लोभ कषाय अति सूक्ष्म रूप में शेष रह गयी है तथा जो उसे भी क्षीण करने में तत्पर है, उसके चारित्र को 'सूक्ष्म साम्पराय चारित्र' कहते हैं।

5. यथाख्यात :- समस्त मोहनीय कर्म के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर, प्रकट आत्मा के शान्त स्वरूप में रमण करने रूप चारित्र 'यथाख्यात' चारित्र है। इसको वीतराग चारित्र या यथाख्यात चारित्र भी कहते हैं।

यहां यह विशेष ध्यताव्य है कि सामायिक के अतिरिक्त शेष चारों चारित्र सामायिक रूप में ही है परन्तु आचार गुणों की विशेषता होने के कारण उन चार को अलग किया है।

4. अर्हन्त भक्ति :- हे जिनेन्द्र! आपको जन्म से ही अन्तरंग और बहिरंग इन्द्रियों से होने वाला मतिज्ञान, समस्त कथित वस्तुओं को विषय करने वाला श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है, इस प्रकार आपको स्वतः ही सकल वस्तुओं का ज्ञान है तब पर की सहायता की आपको आवश्यकता ही क्या है? हे देव! ध्यानरूपी प्रकाश के द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकार का फैलाव दूर होने पर जब आपने केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी को

धारण किया तो तीनों लोकों ने अपना काम छोड़कर एक नगर की तरह महान उत्सव किया। छत्र लगाऊं या चमर ढोंरु अथवा जिनदेव के चरणों में स्वर्णकमल अर्पित करूं। इस प्रकार जहां इन्द्र स्वयं ही हर्षित सेवा के लिए तत्पर है वहां मैं क्या कहूं। हे देव! तुम सब दोषों से रहित हो, तुम्हारे वचन सुनयरूप हैं- किसी वस्तु के विषय में इतर दृष्टिकोणों का निराकरण न करके विवक्षित दृष्टिकोण से वस्तु का प्रतिपादन करते हैं तथा तुम्हारे द्वारा बतलायी गयी सब विधि प्राणियों के प्रति दया भाव से पूर्ण है। फिर भी लोक यदि तुमसे सन्तुष्ट नहीं होते तो इसका कारण उनका कर्म है। जैसे उल्लू को सूर्य का तेज पसन्द नहीं है किन्तु उसमें सूर्य का दोष नहीं है बल्कि उल्लू के कर्मो का दोष है। हे देव! तुम्हारे चरणों की पूजा के पाद पीठ संसर्ग- मात्र से फूल तीनों लोकों के मस्तक का भूषण बन जाता है अर्थात् उस फूल को सब अपने सिर से लगाते हैं जबकि दूसरों के सिर पर भी रखा हुआ फूल अस्पृश्य माना जाता है। अतः अन्य सूर्य, रुद्रादि देवताओं से तुम्हारी क्या समानता की जावे। हे देव! पहले मिथ्यात्वरूपी गाढ़ अन्धकार से आच्छादित होने के कारण ज्ञानशून्य होकर यह जगत संसार रूपी गढ़े में पड़ा हुआ था। उसका नेत्र-कमल और हृदय-कमल को विकसित करने वाली स्याद्वादरूपी किरणों के द्वारा तुमने ही उद्धार किया है। हे देव! जिसके मन रूपी स्वच्छ सरोवर में तुम्हारे दोनों चरण-कमल विराजमान है उसके पास लक्ष्मी स्वयं आती है तथा स्वर्ग और मोक्ष को यह सरस्वती नियम से उसे वरण करती है।[10]

5. सिद्ध भक्ति :- जिन्होंने अपनी छद्मस्थ अवस्था में मति, श्रुत और अवधिज्ञान के द्वारा सब ज्ञेय तत्वों को विस्तार से जाना, फिर ध्यान रूपी वायु के द्वारा समस्त पाप रूपी धूलि को उड़ाकर केवल ज्ञान प्राप्त किया, फिर इन्द्रादिक के द्वारा किये गये बड़े उत्सव के साथ सर्वत्र विहार करके जीवों का उपकार कियास, तीनों लोकों के ऊपर विराजमान ह वे सिद्ध परमेष्ठी हम सबकी सिद्धि में सहायक हों। मन को दान,

ज्ञान, चारित्र, संयम आदि से युक्त करके और अन्तरंग तथा बहिरंग इन्द्रियों और प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांचों वायुओं का निरोध करके फिर अज्ञान रूपी अन्धकार की परम्परा को नष्ट करने वाले निर्विकल्प ध्यान को करके जो मुक्त हुए उन्हें भी मैं हाथ जोड़ता हूं। इस प्रकार समुद्र, गुफा, तालाब, नदी, पृथ्वी, आकाश, द्वीप, पर्वत, वृक्ष और वन आदि में ध्यान लगाकर जो अतीत काल में मुक्त हो चुके, वर्तमान में मुक्त हो रहे हैं और भविष्य में मुक्त होंगे, तीनों लोकों के द्वारा स्तुति करने के योग्य वे भव्यशिरोमणि सिद्ध भगवन्त हमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी मंगल को देवें।

6. चैत्य भक्ति :- भवनवासी और व्यन्तरों के निवास स्थानों में, मर्त्यलोक में, सूर्य और देवताओं के श्रेणी विमानों में, स्वर्गलोक में, ज्योतिषी देवों के विमानों में, कुला चलों पर, पाताल लोक तथा गुफाओं में जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी की प्रतिमायें हैं, जिन्हें उन स्थानों में रक्षक अपने मुकुटों में जड़े हुए रत्नरूपी दीपकों से पूजते हैं, मैं साम्राज्य के लिए उन्हें नमस्कार करता हूँ।

7. पञ्चगुरुभक्ति :- समवशरण में विराजमान अर्हन्तों की, मुक्तिरूपी लक्ष्मी से आलिंगित सिद्धों को, समस्त शास्त्रों ने पारगामी आचार्यों को, शब्द शास्त्र में निपुण उपाध्यायों को और संसार रूपी बन्धन का विनाश करने के लिए सदा उद्योग शील, योग का प्रकाश करने वाले और अनुपम गुण वाले साधुओं को क्रिया कर्म में उद्यत मैं नमस्कार करता हूं।[11]

8. शान्ति भक्ति :- संसार के दुःख रूपी अग्नि को शान्त करने वाले और धर्मामृत की वर्षा करके जनता में शान्ति करने वाले तथा मोक्षसुख के विघ्नों को शान्त नष्ट कर देने वाले शान्तिनाथ भगवान शान्ति करें। जो केवल मानसिक संकल्प से होने योग्य पुण्य बन्ध के लिए भी प्रयत्न नहीं करता, उस हताश मनुष्य के मनोरथ कैसे पूर्ण हो सकते हैं।

9. आचार्य भक्ति :- तत्त्वों के यथार्थ प्रकाश से तृष्णारूपी अन्धकार को दूर कर देने वाला जिनकी चित्तवृत्ति का प्रचार बाह्य बातों में नहीं होता और परिग्रह रूपी समुद्र के उस पार रहता है, तथा शान्ति रूपी समुद्र के इस पार या उस पार रहता है। अर्थात् जिसकी चित्तवृत्ति परिग्रह की भावना से मुक्त हो चुकी है और शान्ति रूपी समुद्र में सदा वास करती है, उन आचार्यो की पूजा विधि में अर्पित की गयी जल की धारा तुम्हारा (हमारा) कल्याण करें।

अमरसेण चरिउ की प्रस्तावना पृ. 23 में लिखा है कि

ते (पय) धण्ण वि तुवतित्थि जंति। ते पाणि सहल पूया-रयति।
ते सोय धण्ण गुणगण-सुणंति। ते णयण धण्ण तव जुइणि यंति।।
सा रसणा तुव गुणलोललुलइ। सो साहु इत्थु तुव पडि चलइ।।
तं वित्तु वि तुव पयपुज्जलग्गु, तुहं णिवसहि तं हिमवउ समग्गु।
तुव णाणकिरणु उज्जोयएण। णट्ठ वि मिच्छय कोसिय सएण।।

– प्रथम परिच्छेद पृ. 75-76

नरदेह पाकर अपने अंगों को पुण्य कार्यो में लगावे। जो पैर तीर्थाटन करते हैं, जो हाथ जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं, जो कान जिनेन्द्र के गुणों को सुनते हैं, जो नेत्र जिनेन्द्र की छवि निहारते हैं, जो रसना जिनेन्द्र का गुण-गान करती है और जिस हृदय में जिनेन्द्रदेव विराजते हैं वे धन्य हैं। उनका होना सार्थक है। धन वही श्रेयस्कर है जो जिनेन्द्र की पाद-पूजा में व्यय होता है। मनुष्य के अंगों और धन की सफलता इसी में है।

भक्ति का प्रयोजनः-

मूलाचार में लिखा है-

अरहंत णमोक्कारो, भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण।। गाथा 75

जो भावपूर्वक अरहंत भगवान को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से छूट जाता है। आगे और भी लिखा है-

भतीए जिणवराणां खीयदि जं पुव्वसंजियं कम्मं।। गाथा 78

जिनेन्द्र की भक्ति रूप शुभ भाव से पूर्वसञ्चित कर्मों को क्षय हो जाता है।

भावपाहुड़ में लिखा है-

जिणवर वरणंबुरुहं पणमंति जे परमभत्तिरायेण।
ते जम्मवेल्लिमूलं हणंति वरभाव सत्थेण।।153।।

जो भव्य जीव उत्तम भक्ति और अनुराग से जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में नमस्कार करते हैं वे उस भक्तिमय शुभ शास्त्र के द्वारा संसार रूपी बेल को जड़ से उखाड़ डालते हैं।

धवला में लिखा है-

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, पापसंघातकुंजरं।
शतधा भेदमायाति गिरिवज्रहतो यथा।।6,428

जिस प्रकार बज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से पापसंघात रूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं। और भी लिखा है-

जिनबिम्बदसणेण णिधत्ति णिकाचिदस्सवि।
मिच्छत्तादि कम्म कलाबस्स रवयं दंसणादो।।6,427

जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्ति और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप (समूह) का क्षय देखा जाता है।

'आवश्यक निर्युक्ति' में भक्ति के फल की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जिन-भक्ति से पूर्व संचित कर्म क्षीण होते है और आचार्य के नमस्कार से विद्या और मंत्र सिद्ध होते हैं। पुनः जिनेन्द्र की भक्ति से राग द्वेष समाप्त होकर आरोग्य, बोधि और समाधि लाभ होता है[12]

स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, आराधना, सेवा, श्रद्धा आदि सभी भक्ति के ही अनेक रूप हैं।

मरणकण्डिका में लिखा है-

जिनेन्द्र भक्तिरेकापि, निषेद्धुं दुर्गतिं क्षमा।
आसिद्दि - लब्धितो दातुं, सारां सौख्यपरम्पराम्।।778

अकेली जिन भक्ति ही दुर्गति का नाश करने में समर्थ है और मोक्ष प्राप्ति होने तक इन्द्र पद, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती पद और तीर्थङ्कर पद आदि सारभूत अभ्युदय सुख-परम्परा को देने वाली है।

विधिनोप्तस्य शस्यस्य, वृष्टिर्निष्पादका यथा।
तथैवाराधना भक्तिश्चतुरङ्गस्य जायते।।783

जैसे विधि का अर्थात् धान्य उत्पन्न करने के सम्पूर्ण कार्यो का आश्रय कर जमीन में बीज बोने के अनन्तर जल वृष्टि होने से फल की निष्पत्ति होती है वैसे ही अर्हतादि पूज्य पुरुषों की भक्ति करने से ही दर्शन, ज्ञान, तप और चारित्र रूपी फल उत्पन्न होते हैं।

पद्मनन्दि - पञ्चविंशतिका में लिखा है-

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये।।

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां धिक् च गृहाश्रयम्।।6/14,15

जो भव्य प्राणी भक्ति से जिन भगवान का दर्शन, पूजन और स्तुति किया करते हैं वे तीनों लोकों में स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य बन जाते हैं।

जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न स्तुति ही करते हैं उनका जीवन निष्फल है तथा उनके गृहाश्रम को धिक्कार है।

आत्मज्योतिर्निधिरनवधिर्द्रष्टारानन्दहेतुः।
कर्मक्षोणीपटलपिहितो योऽनवाप्य परेषां।।

हस्ते कुर्वत्यनतिचिरतस्तं भवद् भक्ति भाजः।
स्तोत्रैर्बन्ध प्रकृति परुषों द्धामधात्री खनित्रैः।।

– एकीभाव स्तोत्र-15

भक्ति से परिपूर्ण हृदयशील स्तोत्रकार यहां तक कह देता है कि चित्त की शुद्धि प्रभु भक्ति से ही होती है। पुराणों की मान्यता है कि गंगा नदी हिमालय पर्वत से प्रकट हुई और समुद्र पर्यन्त लम्बी है, इसमें स्नान करने वाला पापरहित हो शुद्ध हो जाता है। इसी बात को लक्ष्यकर स्रोतकार कहते हैं कि प्रभु के अनेकान्त नय को देखकर मेरी भक्ति उत्पन्न हुई है और यह भक्ति तव तक रहेगी जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो जाए तथा यह भक्ति हमेशा प्रभु के चरण कमलों में रहती है।

हम भक्ति के उद्देश्यों को निम्न शीर्षकों में वर्णन कर सकते हैं:-

1. तद्गुणप्राप्ति :- उपासक अपने उपास्य की भक्ति करता है, उनका गुणों का संस्तवन करता है, उसके पीछे केवल उनकी कृपा प्राप्त करना नहीं, अपितु उन जैसा बनने की भावना सम्मिलित रहती है। उसके हृदय में यह अन्तर्निहित रहता है कि वह साधना के द्वारा वैसे गुणों का जो उसके आराध्य में है, पात्र बने। भक्ति एवं स्तवन के साथ वहां आत्प-प्रेरणा का भाव अनुस्यूत रहता है तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है-

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।

यहां भक्त कहता है- मैं मोक्ष मार्ग के नेता, कर्म रूपी पर्वतों के भेत्ता और विश्व तत्त्वों के ज्ञाता को उसके गुणों की प्राप्ति के लिए

वन्दन करता हूं। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रभु में विद्यमान गुणों को अपने में उद्भूत करने के उद्देश्य से उपासक, गुणवान् उपास्य की उपसना करता है।

2. शान्ति-प्राप्ति :- जगत का प्रत्येक प्राणी जन्म, जरा एवं मरण के दुःखों से पीड़ित है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों से ग्रस्त होने से अशान्त है। भव्य जीव संसार के इन जन्ममरणादि कष्टों से मुक्त होकर रागादि विकारों का नाश करके आत्मशान्ति प्राप्त करना चाहता है। जिस मन रूपी मन्दिर में ज्योतिस्वरूप प्रभु विराजमान हैं, प्रकाशमान हैं, उस मन्दिर में विकार रूपी ,अन्धकार को कोई अवकाश नहीं रहता। अतः स्तुतिकार स्तोत्रों की रचना कर प्रभु से आत्मशान्ति की कामना करते हैं। इस दृष्टों से 'स्वयम्भूस्तोत्र' का निम्न श्लोक दृष्टव्य है-

'स्वदोषशान्तया विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद् भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः।।'

जिन शान्तिनाथ भगवान ने अपने दोषों की शान्ति करके आत्मशान्ति को प्राप्त किया है और जो शरणागतों के लिए शान्ति के विधाता हैं, वे भगवान् शान्ति जिन मेरे शरण हैं। ऐसे ही श्री शान्ति जिन मेरे भवभ्रमण के क्लेशों की और भयों की अपशान्ति के लिए निमित्त बनें।

पाप-क्षय :- वीतरागदेव के अनन्त ज्ञानादि पवित्र गुणों का स्मरण चित्त (आत्मस्वरूप) को पाप मलों से पवित्र करता है। इसलिए स्तुतिकार पापमुक्ति के उद्देश्य से भी स्तोत्र-रचना करते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने 'स्तुतिविद्या' के प्रारम्भ में स्पष्ट रूप से कहा है स्तुति रूप विद्या की सिद्धि में भली प्रकार संलग्न होने से शुभ परिणामों द्वारा पापों पर विजय प्राप्त होती है और उसी का फल कामस्थान मोक्ष की प्राप्ति है। इसलिए मैं जिनेन्द्रदेव के पद सामीप्य को प्राप्त करके, पापों को जीतने के लिए - मोहादिक पाप कर्मों अथवा हिंसादिक दृष्कृतों पर

विजय प्राप्त करने के लिए स्तुति विद्या की प्रसाधना करता हूं। श्री अर जिन स्तवन में भी लिखा है- 'गुणकृशमपि किञ्चनोदितं मम भवताद् दुरितासनोदितम्' जिनेश्वर के विषय में जो अल्प गुणों का कीर्तन किया गया है, वह पाप कर्मों के विनाश में समर्थ होवे।

मानतुङ्गाचार्य ने लिखा है-

त्वत्संस्तवेन भव-सन्तति-सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीर-भाजाम्।। भक्तामरस्तोत्र - 7

अर्थात् मानव हृदय में श्री जिनेन्द्रदेव के गुणों का प्रकाश होते ही देहधारी प्राणियों के जन्म जन्मान्तरों से उपार्जित एवं बद्ध पाप-कर्म तत्काल नष्ट हो जाते हैं।

मुक्ति-प्राप्ति :-

जैनदर्शन के अनुसार जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य है मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है- अष्टविध कर्मों से विमुक्त होकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्म पद को प्राप्त करना। संसारी जीव निरन्तर मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के द्वार से पापास्रव करके कर्म-बन्धन में बंधता रहता है। परिणाम स्वरूप जन्म-जन्मातरों तक चतुर्गतियों में परिभ्रमण करता रहता है। इस अनन्तानन्त संसार की भव-परम्परा को काटने का सबसे सरल एवं सुगम साधन भगवद्-भक्ति है। इसलिए जैन स्तोत्रकारों ने स्तोत्र रचना का प्रमुख उद्‌देश्य मुक्ति-प्राप्त माना है। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि इस संसार में स्तोता को मोक्ष पथ सुलभ है, स्तोता के अधीन है, अर्थात् जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धापूर्वक स्तुति करके स्तोता सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त करता है और परम्परया मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है तब ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो श्री नमि जिन की स्तुति न करें।

किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रेयसपथे,
स्तुयान्न त्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम्।।

जैन स्तोत्रों में अनेक स्थलों पर जिन-स्तुति द्वारा कर्मों के विनष्ट होने की चर्चा की गई है। 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' में आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है-

हृदयवर्तिनि त्वयि विभो! शिथिली भवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्म बन्धाः।
सद्यो भुजंगम-मया इव मध्य-भाग-
मम्यागते वन शिरनण्डि निचन्दनस्य।।

अर्थात् हे प्रभो! आप अब प्राणियों के हृदय में निवास करते हैं तब उनके सघन कर्मों के बन्धन क्षण भर में ढीले हो जाते हैं। जैसे वन मयूर के आने पर चन्दन वृक्ष के मध्य भाग में लिपटे हुए भयंकर सर्प तत्काल ढीले पड़ जाते हैं।

सन्दर्भ :

1. रुचं बिभर्ति ना धीर नाथामि स्पष्टवेदनः।
   वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शविदिनः।। आचार्य समन्तभद्र - स्तुति विद्या 60
2. सवार्थसिद्धि में 6/24 का भाष्य
3. उपासकाध्ययन 202
4. संवेओ निव्वेओ णिंदण गरहा य उवसमो भत्ती।
   वच्छल अणुकम्पा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते।। लाटी सहिता में उद्धृत 2/18
5. 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' तत्त्वार्थ सूत्र 1/2
6. देवगुरुम्मि य भत्ती साहम्मी य संजुदेसुं अणुरत्तो।
   सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होई जोई सो।। मोक्षपाहुड़ 52
7. ये कुर्वन्तु तपांसि दुर्धराधियो ज्ञानानि सञ्चिन्वतां।
   वित्तं वा वितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिदः।
   एषा येषु न विद्यते तव वचः श्रद्धावधानोद्धुरा।
   दुष्कर्माङ्कुरकुञ्चवज्रदहनाद्योता वदाता रुचिः।।
   संसाराम्बुधिसेतु बन्धमसमप्रारम्भलक्ष्मीवन

प्रोल्लासामृत वारिवाहुमखिलत्रैलोक्य चिन्तामणिम्।।

कल्याणाम्बुजषडसंभवसरः सम्यक्त्वरत्नं कृतौ

यो धत्ते हृदि तस्य नाथ सुलभाः स्वर्गापवर्गश्रियः।। उपासकाध्ययन 461, 462

8. यशस्तिकम्पूगत उपासकाध्ययन, श्लोक 463, 464, 465
9. वही, श्लोक 465-466
10. वही, श्लोक 469-475
11. वही, श्लोक 476-480
12. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 10,11

उपाचार्य - जैन-बौद्ध दर्शन विभाग
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय
का. हि. वि. वि., वाराणसी

भक्ति मुक्तिदायिनी

जन्मजीर्णाटवीमध्ये, जनुषान्धस्य मे सती।
सन्मार्गे भगवन्भक्तिः भवतान्मुक्तिदायिनी।।

– क्षत्रचूडामणि, 6/34

जैसे किसी विशाल और पुराने जंगल में मार्ग भ्रष्ट किसी जन्मान्ध पुरुष को किसी प्रकार यथार्थ राह मिल जावे, तो वह अभीष्ट स्थान पाकर बहुत संतुष्ट होता है। उसी प्रकार हे भगवन्! मैं भी सन्मार्ग को भूलकर अनादिकाल से दुःखद संसार में भटक रहा हूँ। अब आपसे यही प्रार्थना है कि आपके प्रसाद से मुझे वह समीचीन भक्ति प्राप्त हो, जिससे मैं मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होकर परम्परया मुक्ति को प्राप्त कर सकूँ।

पाठकीय प्रतिक्रिया

आज ही अनेकांत का जुलाई-दिसंबर 2006 का अंक प्राप्त हुआ। इसमे आपका एक लेख 'मध्यलोक में भोगभूमियाँ - एक अनुचिन्तन' पढने को मिला। इस लेख के संबंध में अत्यन्त विनय के साथ निवेदन कर रहा हूँ। कृपया नीचे लिखे विंदुओं पर विचार कीजिएगा :-

1. पृष्ठ 71 पर आपने सर्वार्थ सिद्धि के ध्वजदंड से सिद्ध लोक को 29 योजन 425 घनुष ऊपर लिखा है। मेरी राय में यह ठीक नहीं है। सर्वार्थ सिद्धि से 12 योजन ऊपर अष्टम पृथ्वी है, जो 8 योजन मोटी है। इसके ऊपर 2 कोस का घनोदधिवलय + 1 कोस का घनवातवलय+ 1575 धनुष का तनुवातवलय है। अर्थात् सर्वार्थ सिद्धि के ध्वजदंड से 21 योजन -425 धनुष ऊपर तो लोकांत है । इस तनुवातवलय के अंतिम 525 धनुष में सिद्ध लोक है। नोट- यह 525 धनुष- छोटे योजन के अनुसार है जबकि तनुवातवलय का 1 कोस, वडे योजन वाला है। अर्थात् तनुवातवलय के 1/3 भाग में सिद्ध लोक है। इसे हमें बड़ा तथा छोटा कोस का अन्तर करने के लिए 500 से गुणा करना चाहिए। अर्थात् तनुवातवलय के 1/1500 वें भाग में सिद्ध लोक है। **निष्कर्ष**- सर्वार्थसिद्धि के ध्वजदंड से 12 योजन + 8 योजन + 2 कोस + 1 कोस + तनुवातवलय का 1/1500 भाग कम तनुवातवलय = 21 योजन से कुछ कम ऊपर सिद्ध लोक है। संदर्भ- मुख्तार ग्रंथ भाग 1 पृष्ठ 610।

2. पृष्ठ 77 पर लिखा है कि भोगभूमिज जीवों में अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व एवं सासादन दो गुणस्थान होते हैं। मेरी राय में यह ठीक नहीं है। कोई जीव मनुष्यायु का बंध करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर मरण करे, तो उसका जन्म भोगभूमि में ही तो होगा। अतः अपर्याप्त अवस्था में प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ ये तीन गुणस्थान होते हैं। आपने अपर्याप्त भोगभूमिजों के गुणस्थान, तिलोयपण्णत्ति 4/416 के आधार से लिखे हैं। पर इसका अर्थ गलत है। कृपया तिलोयपण्णत्ति के ही 4/424 का अवलोकन करें। भोग पुण्णए.........पुण्णे अर्थ– अपर्याप्त अवस्था में

मिथ्यात्व एवं सासादन गुणस्थानों में कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभलेश्याओं से और चतुर्थ गुणस्थान में कापोतलेश्या के जघन्य अंशो से तथा पर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्वादि चारों गुणस्थानों में तीनों शुभ लेश्याओं से युक्त। यहां अर्थ ठीक किया है अर्थात् अपर्याप्त अवस्था में चतुर्थ गुणस्थान में कापोतलेश्या का जघन्य अंश होता है।

कृपया त्रिलोकसार गाथा 794 भी देखें। वरदाणदो--ओही-अर्थ- विदेह में सत्पात्र दान के फल से जिन्होंने मनुष्यायु का बंध करने बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है अर्थात् क्षायिक सम्यग्दृष्टि हुये हैं वे यहाँ तृतीय काल के अंत में जघन्य भोग भूमि में 14 कुलकर हुये थे।

(यह भी विशेष है कि मनुष्यायु का बंध करके, दर्शन मोह की क्षपणा करने वाले, यदि कृतकृत्य वेदक अवस्था में मरण करें तो भोग भूमि में सम्यक्त्व सहित चतुर्थ गुणस्थान में उत्पन्न होते है।)

इन सबसे स्पष्ट है कि भोगभूमिजों के अपर्याप्त दशा में प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ गुणस्थान होते हैं।

3. पृष्ठ 78 पर लिखा है-"कुमानुष द्वीपों में तिर्यच नही पाये जाते हैं"। यह भी ठीक नहीं है। कृपया तिलोयपण्णत्ति 4/2552 को देखने का कष्ट करियेगा। गब्भादो ते मणुवा.....तारुण्णा-अर्थ-वे मनुष्य और तिर्यच, युगल रूप में गर्भ से सुख पूर्वक निकलकर अर्थात् जन्म लेकर समुचित दिनों में यौवन धारण करते हैं (यह वर्णन कुभोगभूमियों का है) आगे गाथा न. 4/2555 भी देखियेगा। इसमें भी तिर्यचों का वर्णन दिया है।

जैन तत्वविद्या (लेखक-मुनि प्रमाण सागर जी) ज्ञानपीठ प्रकाशन पृष्ठ 86-87 में लिखा है-"कुभोगभूमि में सभी मनुष्य और तिर्यच युगल रूप में जन्म लेते हैं। और युगल ही मरते हैं।"

आपका

रतनलाल बैनाड़ा
1/205, प्रोफेसर्स कालोनी, आगरा-282002

समीक्षा

समीक्ष्य कृति	:	सफर की हमसफर
परिशोध एवं संकलन	:	डॉ. मूलचन्द जैन
प्रकाशन	:	प्राच्य श्रमण भारती, 12 ए प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर
साइज एवं पृष्ठ संख्या	:	डिमाई 23 36/16, 100
मूल्य	:	रू. 10.00

डॉ० मूलचन्द जैन द्वारा संकलित एवं परिशोधित कृति "सफर की हमसफर" में चालीस लघु किन्तु प्रेरणाप्रद कहानियाँ हैं, जो घर में हों या बाहर, हवाई जहाज में हों या रेलगाड़ी अथवा बस में सब जगह साथ रखकर स्वयं पढ़ने योग्य तथा साथियों/सहयात्रियों को पढ़वाने योग्य हैं। आप इन्हें पढ़कर निश्चित रूप से वाह-वाह कह उठेंगे तथा जिसे पढ़वायेंगे, उससे भी वाह-वाही लूटेंगे। ये कहानियाँ आबाल वृद्ध सभी व्यक्तियों की उदासी एवं बेचैनी मिटाकर चैन तो प्रदान करेंगी ही, सन्मार्ग का भी प्रदर्शन करेंगी।

कहानी संकलन में संकलित कहानी 'क्षमा माँगे किससे' से सुस्पष्ट हो जाता है कि युद्ध में बन्दी बनाकर भी जिसे नहीं जीता जा सकता है, उसे भी क्षमा से जीतना संभव है। 'सासू बनो तो ऐसी' उन सभी सासों को अवश्य पढ़ना चाहिए जो बहू से तो आशा करती हैं कि वह उन्हें माँ माने, पर बहू को बेटी मानकर व्यवहार नहीं करना चाहती हैं। जो बहू-बेटी में अन्तर करके घर को नरक बनाने का स्वयं उपक्रम करती हैं तथा बाद में स्वयं नारकीय दुःखों को अपने ही घर में भोगने को मजबूर होती हैं। 'सात कौड़ी में राज्य' कहानी यह शिक्षा देने में समर्थ है कि यदि लक्ष्य के प्रति दृढ़ निश्चय है तो सफलता अवश्य प्राप्त होगी। 'कहाँ तो राग- कहाँ वैराग्य' में लेखक ने इस भाव को प्रकट किया है कि भले ही मोहनीय कर्म विचित्र नाच नचाने में समर्थ हो किन्तु अदम्य पुरुषार्थ द्वारा तप एवं ध्यान से मोहनीय कर्म से भी छुटकारा पाया जा सकता है। कहानी 'आहारदान का कमाल' एवं 'रात्रि भोजन बिल्कुल नहीं' अपने नाम के अनुरूप कथ्य के प्रभाव को पाठकों पर डालने में समर्थ हैं। 'क्या करने जा रही हो' कहानी बालिकाओं के भ्रूण की हत्यारी माताओं का दिल दहलाकर उन्हें इस महापाप से बचाने की प्रेरणा प्रदान करती है तो 'जरा से परिग्रह का नजारा' कहानी अनायास ही परिग्रह त्याग का

उपदेष्टा बनकर हमारे समक्ष उपस्थित होती है।

'कौन बड़ा' में भाग्य और पुरुषार्थ को एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह-एक दूसरे का पूरक सिद्ध किया गया है तथा भाग्यवादियों को पुरुषार्थ की प्रेरणा दी गई है। जिस प्रकार एक चक्र से रथ की गति संभव नहीं है, उसी प्रकार भाग्य या पुरुषार्थ में किसी एक से काम नहीं चल सकता है। दूसरों की हत्या करके अपना भला चाहने वालों की कैसी दशा होती है, यह बात 'नरक का द्वार' कहानी से आसानी से जानी जा सकती है। कहानी 'साधु कौन' में कहा गया है कि चमत्कार साधु की कसौटी नहीं है अपितु समता, परोपकार, स्वार्थत्याग आदि गुणों के आधार पर साधु को परखना चाहिए। खदिरसार भील के वृत्तान्त पर आश्रित कहानी 'गाड़ी में ब्रेक जीवन में संयम' में बताया गया है कि एक छोटा नियम भी व्यक्ति को महान् बना सकता है।

'मित्र हो तो ऐसा' कहानी का कथ्य है कि मित्र वही है जो एक दूसरे को सन्मार्ग पर लगाने के लिए सम्बोधे। ब्रह्मचर्य के महत्त्व को प्रकट करती है कहानी 'व्रतों में महान् कौन' तथा त्यागपूर्वक ही जीवन चल सकता है। भाव को स्पष्ट करती है कहानी 'त्याग से की काम बनता है'। कहानी '88 का चक्कर' से स्पष्ट होता है कि आशाओं रूपी गड्ढा कभी भरता नहीं है। आशायें तो भस्मासुर के मुख की तरह आगे-आगे बढ़ती ही जाती हैं। अन्तिम कहानी 'माता बहिन सुता पहचानो' उन मनचलों को सन्मार्ग प्रदर्शन का काम करती है जो मौका मिलते ही महिलाओं पर फबतियाँ कसने में माहिर हैं। शेष सभी कहानियों में भी लेखक अपने लक्ष्य में सफल रहा है।

कुल मिलाकर लेखक अपने भावों को पाठकों तक संप्रेषित करने में समर्थ रहा है। इन कहानियाकें की भाषा सरस, सरल, सर्वजनसंवेघ एवं कथ्यानुरूप है तथा शैली अत्यन्त प्रभावी है। विश्वास है कि लेखक की लेखनी से ऐसे ही अन्य अनेक कहानी-संकलन प्रसूत होंगे, जो भूली मानवता को राहा दिखा सकेंगे। इस उपयोगी कहानी संकलन की प्रस्तुति के लिए लेखक एवं प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

समीक्षक– डॉ० जयकुमार जैन
अध्यक्ष– संस्कृत विभाग
एस०डी० कॉलेज, मुजफ्फरनगर-251001

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अंतर्गत आयकर में छूट

60/3

अनेकान्त

7082

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अक मे-

कहाँ/क्या?

1	अध्यात्मपद	- पण्डितप्रवर दौलतराम जी	1
2	सम्पादकीय		2
3	आदिपुराण मे वर्णित आजीविका के साधन एव आर्थिक विचार	डॉ सुपार्श्व कुमार जन	7
4	सागार धर्मामृत म सल्लेखना	श्री आनन्द कुमार जन	19
5	सागार धर्मामृत म ग्यारह प्रतिमाओ का विवचन	प पुलक गोयल	33
6	भगवान महावीर का दशना स्थल एव गणधर	- प सनतकुमार विनादकुमार जन	49
7	जलाभिषक बनाम पचामृत अभिषेक	डॉ राजन्द्र कुमार बसल	55

वर्ष 60 किरण 3

जुलाई सितम्बर 2007

सम्पादक :

डॉ. जयकुमार जैन

429, पटल नगर

मुजफ्फरनगर (उ प्र)

फोन· (0131) 2603730

सस्था की

सरक्षक सदस्यता

51,000 -

आजीवन सदस्यता

11,000 -

वार्षिक सदस्यता

1,000 -

इस अक का मूल्य

10/-

सदस्यो व मदिरो क

लिए नि शुल्क

प्रकाशक :

भारतभूषण जैन, एडवोकट

मुद्रक ·

मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

अध्यात्म-पद 7082

"हम तो कबहुँ न निजगुन भाये"

हम तो कबहुँ न निजगुन भाये।
तन निज मान जान तन सुख-दुख में विलखे हरषाये।।

तन को गरन मरन लखि, तन को, धरन मान हम जाये।
या भ्रमभौंर परे भवजल चिर, चहुँगति विपति लहाये।।
हम तो कबहुँ.................. ।।1।।

दरश-बोध-व्रत-सुधा न चाख्यो, विविध विषय-विष खाये।
सुगुरु दयाल सीख दई पुनि-पुनि, सुनि-सुनि उर नहिं लाये।।
हम तो कबहूँ.................. ।।2।।

बहिरातमता तजी न अन्तर दृष्टि न ह्वै जिन ध्याये ।
धाम काम धन रामा की नित, आस-हुतास जलाये ।।
हम तो कबहूँ.................. ।।3।।

अचल अरूप शुद्ध चिद्रूपी, सब सुखमय मुनि गाये ।
"दौल" चिदानन्द स्वगुण-मगन जे, ते जिय सुखिया थाये ।।
हम तो कबहूँ.................. ।।4।।

– कविवर दौलतराम जी

सम्पादकीय–

चैतन्यचन्द्रोदय परीष्टि

अनादि काल से इस जगत् में दो विचारधारायें सतत प्रवाहमान हैं– श्रेय और प्रेय। कठोपनिषद् में कहा गया है–

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।"

विवेकी व्यक्ति प्रेय की अपेक्षा श्रेय को वरेण्य मानता है, जबकि मन्द बुद्धि वाला व्यक्ति योगक्षेम के कारण प्रेय का वरण करता है।

परमपूज्य सन्तशिरोमणि दिगम्बराचार्य विद्यासागर जी महाराज द्वारा प्रणीत चैतन्यचन्द्रोदय एक ऐसा श्रेयोमार्गी 114 वृत्तात्मक लघुकाय ग्रन्थ है, जिसमें जैन सिद्धान्त का सार लबालब भरा है। इसके पठन, अध्ययन एवं अनुशीलन से अध्येता एकत्र ही समन्तभद्र की भद्रता और कुन्दकुन्द के कुन्दन को प्राप्त कर सकते हैं।

चैतन्यचन्द्रोदय के लेखन का प्रयोजन आचार्यश्री ने स्वयं 'स्वरूपलाभाय विरूपहान्यै' (पद्य 2) कहकर स्पष्ट कर दिया है कि इस ग्रन्थ में चेतनविषयक चर्चा का उद्देश्य स्व स्वरूपता को प्राप्त करना तथा विरूपता का निवारण करना है। यह प्रयोजन प्रणेतृनिष्ठ तो है ही, पाठकनिष्ठ भी है। आगम में चैतन्य या चेतना को आत्मा का लक्षण माना गया है, जिसका संवेदन यह जीव सतत करता रहता है। जीव के स्वभावरूप उस चेतना के दो भेद हैं- ज्ञान और दर्शन। चेतना की परिणति विशेष होने से इन्हें उपयोग भी कहा जाता है। साकार और अनाकार के भेद से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में भिन्नता है। ज्ञान का विषय विशेष होता है तथा दर्शन का सामान्य। ये उपयोग संसारी अवस्था में अशुद्ध तथा मुक्त अवस्था में शुद्ध होते हैं। अशुद्धोपयोग अशुभ एवं शुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। आचार्यश्री ने उन तथाकथित तत्त्वज्ञानियों को नयपद्धति से दूर कहा है जो ऐसा मानते हैं कि द्रव्य एवं उनके गुण त्रैकालिक शुद्ध हैं तथा केवल पर्यायें ही अशुद्धता को प्राप्त होती हैं। वे लिखते हैं-

"त्रैकालिका द्रव्यगुणा विशुद्धाः,
पर्याय एवाशुचितागतस्तु।
यद्दर्शनज्ञानगुणौ विशुद्धा-
वित्थं वदन्तो नयमार्गदूराः।। 5।।"

कुछ दार्शनिकों की यह अवधारणा है कि एक ईश्वर जगत् का कर्ता, पालनकर्ता एवं हर्ता है। जैन दर्शन इस बात को स्वीकार नहीं करता है। उसकी तो मान्यता है कि अनादि काल से बीज-वृक्ष की तरह योग एवं मोह के वशीभूत हो कर्मोदय से भाव और भाव से कर्मबन्ध के रूप में सृष्टि परम्परा चलती रहती है। जब मोह का अभाव हो जाता है, तब दग्ध बीज के समान उस जीव का कर्मबन्ध समाप्त हो जाता है, तथा वह जीव पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। चैतन्यचन्द्रोदय में इस तथ्य का अतीव शोभन विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में ईश्वर कर्तव्य की अवधारणा के निरसन में आचार्यश्री का कथन द्रष्टव्य है:-

" चराचराणां जगतोऽपि कर्ता,
हर्त्तापि काले प्रतिपालकोऽपि ।
स ईश्वरोऽस्तीति वयं तदंशाः
मतिं दधद्दुःखि जगत्सदेदम् ।।22।।"

आगम में कार्य के प्रति नियामक हेतु को कारण कहा जाता है। कारण दो प्रकार का होता है- उपादान और निमित्त। कुछ तथाकथित नव्य अध्यात्मवादी निमित्त कारण के प्रभाव को ठीक प्रकार से स्वीकार करने में हिचकते हैं। चैतन्यचन्द्रोदय में कहा गया है-

" निमित्तरूपेण परप्रभावः,
स्वतोऽन्यथात्वं भवनं विभावः।
मणेः स्वभावो धवलोऽपि रक्तो,
रक्तं च पुष्पं पुरतो यदा स्यात्।।24।।"

अर्थात् निमित्त कारण का भी अत्यन्त प्रभाव है, तभी तो वस्तु में अन्यथारूप विभाव देखा जाता है। स्फटिक मणि का धवल स्वभाव भी

तब लाल हो जाता है, जब उसके समक्ष लाल पुष्प रखा होता है। अन्यत्र भी उन्होंने निमित्त कारण के प्रभाव का कथन करते हुए लिखा है कि मुक्तात्मा में ऊर्ध्वगमन स्वभाव प्रकट हो जाने पर भी वह लोकाग्र के आगे गमन नहीं कर पाता है। क्योंकि लोकाग्र के आगे गति में निमित्त कारण रूप धर्मद्रव्य का सद्भाव नहीं पाया जाता है-

"मुक्तो भवँस्तत्क्षण ऊर्ध्वमात्मा,
लोकाग्रमेति प्रकटात्स्वभावात्।
धर्मास्तिकायस्य परं त्वभावात्,
परं न तस्यास्ति गतिर्जिनोक्तिः।। 104 ।।"

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्राथमिकी भूमिका है। चैतन्यचन्द्रोदय में आगमसरणि का ही अवलम्बन लेकर कहा गया है कि निःसंग साधुओं की संगति, जिनवाणी का यथारीति श्रवण तथा जिनबिम्बों के दर्शन से मिथ्यात्व की हानि एवं सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। अठारह दोषों से रहित जिनेन्द्र देव, दयायुक्त धर्म और दिगम्बर मुनि के प्रति श्रद्धा को आगम में सम्यग्दर्शन कहा है। आचार्यश्री लिखते हैं-

"जिनेषु येऽष्टादशदोषमुक्ता,
धर्मे तथास्मिन् दययांचिते या।
श्रद्धा मुनौ स्याच्च दिगम्बरेऽपि,
सम्यक्त्वमेतत् समये समुक्तम्।।3।।"

चैतन्यचन्द्रोदय में जीव के अन्तरंग परिणामों में होने वाले उतार चढ़ाव रूप गुणस्थानों का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन आगमिक गुणस्थान व्यवस्था को स्पष्ट करने में समर्थ है। कुछ विद्वान् आगम के किसी सापेक्ष कथन को आधार बनाकर सम्यक्त्व की उपलब्धि होते ही चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्ग स्वीकार करने लगते हैं। आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्ग का सूत्रपात उपचारमात्र है। वे लिखते हैं-

"आद्यश्च मोहः शिवमार्गशत्रुः,
शेषक्षतेस्तु क्रमतो विकासः।
तस्येति केचिच्च विचारवन्तो,
गुणे चतुर्थे किल सूत्रपातः।।36।।"

महाग्रन्थ धवल में 'सिद्धा ण जीव' कहकर सिद्धों को जीव नहीं कहा गया है। इस कथन से भ्रान्ति की संभावना है। अतः आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि यह कथन सर्वथा नहीं है, अपितु प्राणों कि अपेक्षा है। सिद्धों में प्राणराहित्य होने से ऐसा कहा गया है। वे प्राणों से रहित तो हो गये हैं, किन्तु जीवन से नहीं। उनका तर्क है कि मोक्ष में जब सुख है, तो उसका भोक्ता जीव भी मानना ही होगा। भोग्य वस्तु का क्या प्रयोजन है? उन्होंने कहा है-

"सिद्धा न जीव इति सर्वथा न,
प्राणैर्विमुक्ता न तु जीवनेन।
मोक्षे सुखं चेत् खलु तस्य भोक्ता,
भोक्त्रा विना तत्किमु भोग्यवस्तु।।105।।"

अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का चैतन्यचन्द्रोदय मे किया गया वर्णन शास्त्रानुकूल तो है ही, साथ ही इस वर्णन में आचार्यश्री की युगचेतना का भी प्रतिबिम्ब हुआ है। इस प्रसंग में अशुभोपयोग की प्रवृत्तियो का वर्णन करते हुए अन्य अशुभ प्रवृत्तियों के साथ 'राष्ट्रीयतायाः प्रतिलोमिताऽपि' (पद्य 41) कहकर आचार्यश्री राष्ट्रविरोधी गतिविधियों को अशुभोपयोग मे समाविष्ट कर ऐसे कार्यो में संलग्न धर्मध्वज गृहस्थों से कुछ कहते हुए प्रतीत होते हैं। प्रसंगतः विद्वद्वर्ग को भी उन्होंने चारित्र धारण करने की प्रेरणा देते हुए लिखा है-

"सुखस्य मूल्यं खलु चेतनैव,
सज्ज्ञानहीना किमु सास्तु मुक्तिः।
मुक्तेः सुखायाध्रियते चरित्रं,
विमुक्तपापैश्च विदांवरैस्तैः।।18।।"

चैतन्यचन्द्रोदय के अन्त में 8 पद्यों में 'सिद्धान्मुदेऽहं मनसा नमामि' कहकर आचार्यश्री ने गुणस्मरणपूर्वक जो सिद्ध परमेष्ठी की स्तुति की है, वह अनुपम एवं अद्वितीय है तथा सभी श्रमणों एवं श्रावकों द्वारा सतत मननीय है।

वास्तव में एक शतक में लिखित संस्कृत वाड्मय के विशाल सम्मर्द में आचार्य विद्यासागर जी महाराज का अवदान उल्लेखनीय है। भाषा में उनकी अनुपम पकड़ है। 'चैतन्यचन्द्रोदयचन्द्रिकायै', 'यद्वस्तुतो वस्तु समस्तमस्तु', 'निःसंगसंगाच्च गुरूपदेशात्', 'एकोऽपि कोऽपीति समं समस्तु, 'अनङ्गमङ्गं बहिरन्तरङ्गं' आदि स्थलों पर शब्द नाचते हुए से प्रतीत होते हैं। मुझे विश्वास है कि चैतन्यचन्द्रोदय जैसे सैद्धान्तिक कृति को पाकर संस्कृत समाज प्रमुदित होगा तथा भव्यों की मोक्षमार्ग में प्रवृति होगी।

आचार्यश्री के चरणों में विनम्रतापूर्वक नमोऽस्तु के साथ-

डॉ. जयकुमार जैन
उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एस.डी. (पी.जी.) कालेज
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)- 251001

•

"आदिपुराण में वर्णित आजीविका के साधन एवं आर्थिक विचार"

– डॉ. सुपार्श्व कुमार जैन

जैनाचार्यों ने मनुष्यों के दो भेद किए हैं- अकर्मभूमिज एवं कर्मभूमिज। अकर्मभूमि भोगभूमि का अपर नाम है। चौदहवें कुलकर श्री नाभिराय के समय में ही भोगभूमि की समाप्ति एवं कर्मभूमि का प्रवेश हो चुका था। साथ ही मानव श्रम व पुरुषार्थ के धरातल पर आ खड़ा हुआ।

कर्मभूमि :-

जो अच्छे और बुरे कार्यो का आश्रय हो, उसे कर्मभूमि कहते हैं[1]। अर्थात् स्वर्गादिक विशेष स्थानों को प्राप्त कराने वाले शुभ कार्यों व अन्तिम सातवें नरक तक पहुंचाने वाले अशुभ कार्यों का उपार्जन तथा कृषि आदि षट्कर्मों का आरम्भ इसी भूमि पर आरम्भ होने के कारण इसे कर्मभूमि कहा जाता है। देवकुरू और उत्तरकुरू को छोड़कर भरत, ऐरावत और विदेह ये सब कर्मभूमियां हैं। प्रत्येक के पॉच-पॉच भेद होने से कुल पन्द्रह कर्मभूमियॉ हैं।

कर्मभूमि का वास्तविक प्रारम्भ नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव के समय से होता है। कर्मभूमि के आगमन पर कालवश कल्पवृक्ष निःशेष हो गये, औषधियों के शक्तिहीन हो जाने पर प्रजा में रोग, व्याधि तथा अन्य अनेक बाधाओं से व्याकुलता बढ़ने लगी थी। शीत, आतप, महावायु और वर्षा का प्रकोप अति उग्र होने लगा था, भूख, प्यास आदि की बाधायें तीव्र हो गई थीं, शिक्षा व दीक्षा की समस्याएं बढ़ गयीं, प्रजा धन कमाने की आर्थिक क्रियाओं से अपरिचित थी, वाणिज्य व्यवहार और शिल्प से रहित थी.... आदि अनेक समस्याओं का न केवल जन्म हो चुका था, अपितु इनकी भयंकरता भी बढ़ने लगी थी। भयग्रस्त प्रजा त्राहि-त्राहि करती हुई जब नाभिराय की शरण में पहुंची तो उन्होंने उस प्रजा को अपने विशिष्ट ज्ञानी पुत्र ऋषभदेव के पास भेज दिया।

आजीविका के साधन :-

भयग्रस्त और त्राहि-त्राहि करती हुई प्रजा को देखकर दयार्द्रचित्त ऋषभदेव ने अपने विशिष्ट ज्ञान से जाना कि कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर यह कर्मभूमि प्रकट हुई, अतः प्रजा को षट्कर्मों द्वारा आजीविका करना उचित होगा - ऐसा विचार कर उन्होंने प्रजा के हितकारक आजीविका के निम्न साधनों का प्रतिपादन किया:-

1. असिकर्म अर्थात् सैनिक और आरक्षी कार्य से जीविका कमाना,
2. मषिकर्म अर्थात् लिपिक वृत्ति,
3. कृषिकर्म अर्थात् खेती का कार्य करना,
4. विद्याकर्म अर्थात् अध्यापन व शास्त्रोपदेश द्वारा आजीविका कमाना,
5. वाणिज्यकर्म अर्थात् व्यापार करना, तथा
6. शिल्पकर्म अर्थात् वस्तुओं का उत्पादन, निर्माण आदि कार्य करना[2]।

उपर्युक्त षट्कर्मों से आजीविका कमाने वाले गृहस्थों को आदिपुराण में "षट्कर्मजीविनाम्" कहा जाता है[3]। ऋषभदेव ने असि, मषि आदि षट्कर्मों की न केवल सैद्धान्तिक अपितु इसकी व्यवहारिक शिक्षा भी प्रदान की।

1. असिकर्म

शस्त्र धारण कर सेवा या आजीविका करना असिकर्म कहलाता है[4]। असि शब्द सांकेतिक है, जिसमें तलवार, धनुषवाण, बरछी, भाला, बन्दूकें, रिवाल्वर, मशीनगन, बम-फाईटर्स तथा राकेट आदि भी सन्निहित होते हैं। वास्तव में यह सैनिकों एवं पुलिस वालों के लिए आजीविका का साधन है । ऐसे व्यक्ति साहसी और वीर होना चाहिए। "क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वम्[5]" आदिपुराण के इस कथन से भी यह स्पष्ट होता है, क्षत्रिय जाति के व्यक्ति ही शस्त्र धारण द्वारा आजीविका करते थे, अथवा जो साहसी और वीर व्यक्ति देश की आन्तरिक व बाह्य

सीमाओं की रक्षा करने में तत्पर थे। उन शस्त्रधारियों को ऋषभदेव ने क्षत्रिय-वर्ण की संज्ञा प्रदान की थी। प्रत्येक देश में अपनी तथा दूसरों की रक्षा के लिए ऐसे सैनिकों व पुलिस की आवश्यकता पड़ती ही है, जो समय-समय पर उनकी रक्षा कर सकें। अतः जिन्हें अस्त्रशस्त्रों के चलाने में कुशलता प्राप्त थी, उन्होंने इस असिकर्म अर्थात् सैनिकवृत्ति को स्वीकार कर लिया था। जब देश में आन्तरिक क्रान्ति या गृहयुद्ध हो, साम्प्रदायिक द्वेषभाव से अराजकता फैल रही हो, धर्मविग्रह पैदा हो गया हो या कोई अन्य देश सीमा का अतिक्रमण करने हेतु अस्त्रशस्त्र सहित फौज लिए खड़ा हो, तब इन सैनिकों/पुलिसकर्मियों का उपयोग किया जाता रहा है और आज भी किया जाता है। अतः असिकर्म समाज, धर्म और राष्ट्र की रक्षा के महत्वपूर्ण प्रश्न की सीमा तक विस्तृत है। निष्कर्ष यह है कि अस्त्र-शस्त्र के व्यवहार द्वारा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं पारिवारिक भरण-पोषण करना असिकर्म कहलाता है।

2. मषिकर्म

लेखन के द्वारा आजीविका अर्जन करना मषिकर्म कहलाता है[6]। इसका विशेष सम्बन्ध लिपिक के कार्यों से है जो राज्यीय व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न कार्यालयों का सचालन करता था तथा प्रशासनिक कार्यों में महत्वपूर्ण सहयोग देता था। यह भी एक लाक्षणिक शब्द है और इसमें लेखक, लिपिक, गणक आदि सभी शामिल हैं। लेखपत्र प्रस्तुत करना, प्रज्ञापन लिखना, आज्ञा लिखना आदि कार्य लेखन के माने जाते थे। इस लेखक के ऊपर एक अधिकारी भी होता था, जिसके निर्देशन में उसे लेखकार्य प्रस्तुत करना होता था। 72 कलाओं में "लेख" भी एक कला है, जिसे पूर्व में मषिकर्म कहा जाता था। ऋषभदेव द्वारा लिपि व संख्या का अविष्कार किया जा चुका था। भले ही उस समय शिक्षा पद्धति मौखिक रही हो और लिखित ग्रन्थों का अधिक चलन न रहा हो, फिर भी यह स्पष्ट होता है कि आदिकाल मे लेखन कार्य होता था। इस मषिजीवी वर्ग को भी क्षत्रियवर्ग के समान महत्व दिया जाता था।

3. कृषिकर्म

"कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता:[7] "अर्थात् खेतों को जोतकर व बोकर आजीविका पैदा करना कृषिकर्म कहलाता है। ऋषभदेव के उपदेश से जब यह स्पष्ट हो गया, कि जमीन साफ करके उसमें अनाज बोकर तथा फसल की रक्षा करने से अन्त में खाद्यान्न की प्राप्ति होगी, तब ही भोजन की समस्या हल होगी। अतः जो लोग इस कार्य में रुचि रखते थे, उन्होंने कृषिकर्म को अपनी अजीविका का साधन बना लिया। यह वर्ग अन्य वर्गों की खाद्यान्न संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति भी करता था।

वर्षा के बाद भूमि गीली होने पर सूर्य की तेज किरणों से जब उसमें ऊष्णता उत्पन्न होती थी, तब किसान/कृषिकर्मी बीजारोपण करता था, जिससे अंकुर उत्पन्न होकर धीरे-धीरे बढ़ते हुए फल-अवस्था को प्राप्त हो जाता था[7]। विभिन्न धान्य पैदा किए जाते थे[8] और वे सब प्रचुररूप से उत्पन्न होते थे। नगरों में कोल्हू अर्थात् कुटीयंत्र[9] थे जिसमें गन्ने का रस व तैल आदि निकाला जाता था।

खेतों व बगीचों में नहरों व नदियों[10], कुओं[11], बावड़िओं[12], और सरोवर व तालाबों[13] द्वारा सिंचाई की जाती थी। प्रपा[14] भी सिंचाई के साधन थे जिन्हें आज "अहर" कहा जाता है। खेत के पास गड्ढा खोद कर उसमें संचित किए गए पानी से सिंचाई करना अहर कहलाता है। कुँओं में घटीयंत्र[15] अर्थात् रहट लगाकर भी सिंचाई करते थे। आदिपुराण में "कुल्याप्रणालीप्रसृतोदका[16]" के कथन से स्पष्ट है कि सिंचाई के लिए नहरों में से कुल्यायें अर्थात् नालियां बनाकर पानी को अपने खेतों में लाया जाता था। वर्षा का जल भी सिंचाई का साधन था[17]। स्पष्ट है कि आदिकाल में कृषि केवल वर्षा पर अवलम्बित न होकर कृत्रिम सिंचाई के साधनों पर भी अवलम्बित थी।

आदिपुराण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कृषकबालायें छो-छो करके पक्षियों को उडाकर अपने खेतों की रक्षा करती थीं[18]। खेतों में

चंचापुरुष[19] स्थापित किए जाते थे, जिसे देखकर पशु डरकर भाग जाते थे। चंचापुरुष स्थापित करने की यह परम्परा आज भी विद्यमान है।

आदिपुराण से स्पष्ट है कि तत्कालीन किसान बुआई, निदाई, कटाई, मडाई एवं ओसाना आदि क्रियाओं से भलीभांति विज्ञ थे।[20] पलाल[21] अर्थात् ओसाने की क्रिया से भी वे विज्ञ थे। फसल काटने में यदि कहीं संघर्ष हो जाता था, तो उसकी सूचना वे सूर्यवाद्य[22] अर्थात् तुरही द्वारा देते थे।

कृषि की समृद्धि हेतु राज्य भी खाद, बीज व अन्य उपकरण उपलब्ध कराता था[23]। आपत्काल आदि की व्यवस्था हेतु राज्य खाद्यान्न का विशाल भण्डार बना कर रखता था[24]।

इस प्रकार आदि कालीन "कृषि करो और ऋषि जीवन बिताओ" का सिद्धान्त आज भी भारत के ग्रामीण अंचलों में विद्यमान है। कृषिकर्म में संलग्न व्यक्तियों को क्षत्रियवर्ग के बाद अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

4. विद्याकर्म

"विद्याशास्त्रोपयजीविनें[25]" से ज्ञात होता है कि अध्यापन, नृत्य, गायन आदि के द्वारा आजीविका कमाना विद्याकर्म है। ऋषभदेव के उपदेशों व शिक्षा से प्रभावित होकर कुछ व्यक्तियों ने पठन-पाठन, अध्यापन, गायन, नृत्य तथा आवश्यक क्रियाकाण्डों के सम्पादन को अपनी आजीविका का साधन बनाया। इन लोगों को आजीविका प्रदान करना राज्य का भी उत्तरदायित्व माना जाता था[26]। दिन भर परिश्रम करने के बाद थकावट दूर करने एवं पुनः तरोताजा होने के लिए मनोरंजन के साधन भी आवश्यक हैं। कारखाना अधिनियम 1948 के अन्तर्गत भी इनकी अनिवार्यता आज भी स्वीकार की गई है। किन्तु सभ्यता के आदिकाल में ऋषभदेव ने नृत्य, गान, वाद्य बजाना आदि की शिक्षा दी थी। जिन लोगों ने इसे आजीविका का साधन बनाया, वे विद्याजीवी कहलाये।

5. वाणिज्यकर्म

"वाणिज्यं वणिजां कर्म[27]" अर्थात् उत्पादित व निर्मित वस्तुओं का क्रय-विक्रय करके अर्थोपार्जन करना वाणिज्यकर्म है। ऋषभदेव से इसकी व्यावहार शिक्षा प्राप्त कर कुछ लोगों ने यह वणिक-वृत्ति अपना ली। राज्यपुत्रों के योग्य आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति - इन चतुर्विध राजविद्याओं में[28] वार्ता का भी उल्लेख होने से स्पष्ट होता है कि वाणिज्यकर्म राजपुत्रों के लिए भी अभिहित था। विशुद्ध आचरणपूर्वक खेती करना वार्ता है[29]। वार्ता की व्याख्या कृषि, पशुपालन एवं व्यापार के रूप में भी की जाती है। आदिपुराण[30] में वाणिज्यकर्म के साथ पशुपालन और पशुव्यापार को महत्व दिया गया है क्योंकि कोई भी राष्ट्र इनके विना अपना विकास नहीं कर सकता है। तत्कालीन पशुपालक पशुपालन में अति सतर्कता एवं सावधानी रखता था तथा पशुपालन की समस्त पद्धति से परिचित था[31]। पशुओं के क्रय-विक्रय के मध्य एक प्रतिभू होता था जिसकी जमानत पर पशु क्रय किए जाते थे[32]। व्यापार देश-विदेश में भी फैला हुआ था और विदेशगमन जलमार्ग व वायुमार्ग दोनों से होता था।

6. शिल्पकर्म

"शिल्प स्यात् करकौशलम्[33]" अर्थात् हाथों की कुशलता से धनोपार्जन करना शिल्पकर्म है। हस्तकौशल के कार्यों में बढ़ई, लौहार, कुम्हार, सुनार, वस्त्रकार के अतिरिक्त चित्र बनाना, कढ़ाई-बुनाई आदि कार्य भी इसी में शामिल हैं[34]। ऋषभदेव ने स्वय अपने हाथों से मिट्टी के वर्तन बनाकर दिखलाये एवं कण्ठ व वक्षस्थल के अनेक आभूषण बनाये[35]। आदिपुराण[36] से ज्ञात होता है कि ऋषभपुत्र भरत के पास भद्रमुख नामक शिलावटरत्न अर्थात् इंजीनियर था, जो मकान एवं राजभवनों के निर्माण करने की तकनीक में अत्यन्त दक्ष था। इसने भरत चक्रवर्ती के लिए गर्मी को नष्ट करने वाला धारागृह, वर्षा मे निवास करने योग्य गृहकूटक, सभी दिशाओं को देखने के लिए गिरिकूटक

भवन, व नृत्य देखने के लिए वर्धमान नामक नृत्यशाला निर्मित की थी। तब नव प्रकार के उद्योग संचालित थे, जिन्हें त्रिलोकसार में नवनिधि कहा गया है[37]। निधि का समाजशास्त्रीय अर्थ उद्योगशाला है। इस प्रकार आदिपुराण से स्पष्ट है कि तब लघु उद्योग के साथ-साथ भारी उद्योग भी थे किन्तु छोटे पैमाने पर चलाये जाने वाले लघु व कुटीर उद्योगों की प्रचुरता थी।

इस प्रकार आजीविका के लिए दुःखी एवं त्रस्त को षट् कर्मों का उपदेश देकर ऋषभदेव ने उनकी जीविका व भरणपोषण सम्बन्धी समस्याओं का समाधान किया। अतः उन्हें विश्व का प्रथम अर्थशास्त्री कहा जाना कदापि असंगत नहीं होगा। वस्तुतः वे अर्थशास्त्र के आदिप्रणेता हैं। उन्होंने एक अर्थशास्त्र की रचना की थी, जिसका उन्होंने अपने पुत्र को अध्ययन कराया था।

आदिपुराण में वर्णित आर्थिक विचार

आदिपुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋषभदेव ने नगर, ग्राम, पत्तन आदि की रचना, लौकिक शास्त्रो का निर्माण, षट्कर्मों का लोकव्यवहार और दयामूलक धर्म की स्थापना कर इस भूतल पर सर्वप्रथम कर्मसृष्टि का प्रवर्तन किया था। इस प्रकार जो लोग अभी तक अलग-अलग रूप से यत्र-तत्र फैले हुए थे, वे ग्राम, नगरों आदि में सामूहिक रूप से रहने लगे जिससे सहकारिता व पारस्परिक सहयोग बढा। योग्यता के अनुसार आजीविका की व्यवस्था होने से श्रम-विभाजन का प्रारम्भ हुआ और उपभोग, उत्पादन, विनिमय व वितरण सम्बन्धी व्यवस्थायें सुस्थापित हुई। प्रत्येक वर्ण के लिए सुनिश्चित आजीविका से लोगों में विश्रृंखलता नहीं फैली क्योंकि पं कैलाशचन्द शास्त्री के अनुसार- प्रत्येक के लिए दो-दो कर्म निश्चित होगें अर्थात् असि और मषि से आजीविका करने वाले क्षत्रिय, कृषि और वाणिज्य से आजीविका करने वाले वैश्य और विद्‌या तथा शिल्प से आजीविका करने वाले शूद्र कहे जाते थे[38]। राज्य की व्यवस्था, पूर्ण रोजगार की स्थिति एवं

अधिकतम सामाजिक लाभ व कल्याण की प्राप्ति के लिए श्रम-विभाजन का यह बंधन आवश्यक था। कोई भी नियमों का उल्लघन न कर सके, ऐसी व्यवस्था की गई थी। नियमानुसार कोई भी व्यक्ति अपनी सुनिश्चित आजीविका छोड़कर कोई दूसरी आजीविका नहीं कर सकता था[39]। इस नियम के कारण उनकी सन्तानों के लिए रोजगार सुनिश्चित हो गया और पैतृक व्यवसाय अपनाने से नवीन पीढ़ी को उत्तरोत्तर दक्षता प्राप्त हुई। सामाजिक व कौटुम्बिक जीवन में सुदृढ़ता आई, वर्णसंकर को नियंत्रित किया गया, पारस्परिक वादविवाद बन्द हो गए और राजकीय व्यवस्था सुचारू रूपेण संचालित होने लगी। इस प्रकार मानव समाज में सहअस्तित्व, पारस्परिक सहयोग, सुरक्षा, समानता तथा विश्वबन्धुत्व का विचार वृद्धिगत हुआ। संक्षेप में उन आर्थिक विचारों को निम्न प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :-

1. ग्रामीण व नगरीय संगठन

सामाजिक व आर्थिक सुदृढ़ता का आधार मजबूत व समुचित ग्रामीण व नगरीय संगठन है क्योंकि आर्थिक समृद्धि इन्हीं पर निर्भर होती है। ऋषभदेव ने आर्थिक संगठन की मजबूती के लिए गांव, नगर आदि का निर्माण कराया और अनेक देशों का विभाग किया। बगीचा एवं तालाबों सहित बाड़ से घिरे हुए घरों को ग्राम कहते हैं। सौ घर हों तो छोटा गांव तथा 500 घर हो तो बड़ा गांव कहा जाता था[40]। छोटे ग्रामों की सीमा एक कोस की तथा बड़े ग्रामों की सीमा दो कोस की मानी गई[41] तथा नदी, पर्वत, गुफा, श्मसान, वृक्ष व पुल आदि के द्वारा इनका सीमांकन किया जाता था[42]। अनेक भवन, बगीचे, तालाब, सहित प्रधान पुरुषों के रहने योग्य पुर या नगर कहे जाते थे[43]। 3. इनमें उपभोग योग्य वस्तुओं का उत्पादन व निर्माण किया जाता था, जिससे वे न केवल आत्मनिर्भर थे अपितु नगरों की आवश्यकता की पूर्ति भी करते थे।

2. वर्णव्यवस्था[44]

कर्म अर्थात् गुणों के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की रचना कर श्रमविभाजन के विचार को क्रियान्वित किया जाता था। इन सबके लिए अलग-अलग रूप से आजीविका की व्यवस्था भी सुनिश्चित कर दी गई थी।

3. लिपि व संख्या का आविष्कार[45]

वर्णमाला और अंकात्मक ज्ञान का न केवल विचार ही प्रस्तुत किया गया बल्कि उसकी व्यावहारिक शिक्षा भी प्रदान की गई। ऋषभदेव ने स्वयं अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिज्ञान और पुत्री सुंदरी को अंकज्ञान कराया। इस प्रकार लिपि व संख्या का सर्वप्रथम प्रतिपादन कर शिक्षण, प्रशिक्षण, वैज्ञानिक तकनीकी एवं सामान्यज्ञान वृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया।

4. आर्थिक समानता का विचार[46]

आदिपुराण में पुत्रों व पुत्रियों को पैतृक सम्पत्ति का समान उत्तराधिकारी घोषित किया जाना यह सिद्ध करता है कि तब आर्थिक समानता को प्रोत्साहन दिया जाता था। इस विचार को स्वयं ऋषभदेव ने अपने परिवार से ही प्रारम्भ किया।

5. करारोपण का विचार[47]

करारोपण का विचार बहुत स्पष्ट, सुविधाजनक, उत्पादक एवं अनिवार्य था। इस कर विचार के अनुसार दुधारू गाय को बिना पीड़ा पहुँचाये दूध दुहकर सुखी व प्रसन्न गाय एवं ग्वाले के समान ही राजा को प्रजा से उसे बिना पीड़ा पहुँचाये कर ग्रहण करना चाहिए। इससे प्रजा भी सुखी व प्रसन्न रहती है तथा राज्य के लिए पर्याप्त धन भी सहजता से मिल जाता है। न्यायमंशं ततो हरेत्[48] से स्पष्ट है कि उसे न्यायपूर्ण उचित अंश ही लेना चाहिए।

6. आवश्यकता हीनता का विचार

मानव की आवश्यकतायें आकाश की तरह असीम और सागर की लहरों की तरह अनन्त होती हैं, जिन्हें अपने सीमित साधनों से कभी भी पूरा या सन्तुष्ट नहीं कर सकता, न्यायोपार्जित द्रव्य से इच्छापूर्ति करना चाहिए[49]। आवश्यकता-विहीनता की स्थिति प्राप्त करने के लिए मूलतः दो उपायों का विवेचन किया गया है- **1. निवृत्तिमूलक** - जिसमें समस्त आवश्यकताओं एवं पदार्थों से मोह-ममत्व को त्यागकर वनवास स्वीकार कर आत्मस्वरूप में रमण किया जाता है। तथा **2. प्रवृत्तिमूलक** - जिसमे अहिंसा आदि अणु-चारित्र का परिपालन कर क्रमशः आवश्यकता हीनता की अवस्था की प्राप्ति की ओर बढ़ता जाता है। इसमें ग्यारह सोपानों की मुख्यता है।

7. ब्रह्मचर्य का विचार

असंयम या भोगाधिक्य से मन व इन्द्रियों को वश में रखने की शक्ति घटती है, सुस्ती आती है, जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं को मन्द अव्यवस्थित रखती है एवं विविध रोगों की उत्पत्ति होती है, जो कार्य-अक्षमता को जन्म देती है। परिणामस्वरूप सामाजिक उत्पादकता और राष्ट्रीय कुल उत्पादन में कमी आती है। दूसरी ओर असंयम से जनसख्या तेजी से बढ़ती है जिनके भरण-पोषण पर सरकार को भारी व्यय करना पड़ता है, फलतः राष्ट्रीय विकासात्मक कार्यक्रमों के लिए पूंजी बहुत कम उपलब्ध हो पाती है। इन सबके समाधान के लिए संयम या ब्रह्मचर्य को धारण करना चाहिए[50]। यह संयम न केवल सामाजिक – राष्ट्रीय समृद्धि अपितु आत्मिक समृद्धि भी लाती है।

8. आर्थिक शोषण से मुक्ति का विचार

आर्थिक शोषण से मुक्ति हेतु अपरिग्रह[51] का विचार दिया गया है। यह अपरिग्रहवाद व्यक्ति की अनावश्यक संचयवृत्ति को नियंत्रित कर अर्थात् शोषण की समाप्ति तथा समत्व की स्थापना करता है। अपरिग्रह

एक ऐसा मंत्र है जिस की सिद्धि से विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान करना संभव है।

9. अधिकतम कल्याण का विचार

आदिपुराण से प्रतीत होता है कि जिस प्रकार ग्वाला अपने पशु-समूह को कांटे व पत्थरों से रहित तथा शीत व गर्मी की बाधा से शून्य वन में चराता हुआ उनका पोषण करता है, उसी प्रकार राजा को अपने प्रजा का पालन व रक्षण करना चाहिए। "योगक्षेमं प्रयुंजीत[52]" से स्पष्ट है कि राजा को योग और क्षेम का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् जो वस्तु उनके पास नहीं है वह उन्हें देना चाहिए और जो वस्तु उनके पास है उसकी रक्षा करना चाहिए। तभी प्रजा को अधिकतम कल्याण की प्राप्ति हो सकती है।

10. विनियोजन का विचार

आदिपुराण में "स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनम्। रक्षणं वर्धन चास्य पात्रे च विनियोजनम्[53]।" से स्पष्ट है कि न्यायपूर्वक धनार्जन, संरक्षण तथा संवर्धन के साथ इसे योग्य पात्र में विनियोजन भी करना चाहिए। शिक्षाव्रत के अतिथिसंविभाग में इसका उद्बोधन है। किन्तु इसके बदले में प्रति-प्राप्नि की आशा नहीं रखना चाहिए। व्याज लेना चाहिए या नही इसका स्पष्ट उल्लेख तो वहीं मिला किन्तु व्रतों की दृष्टि से देखें तो यह एक प्रकार का दान है जो निःकांक्षितभाव से किया जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आदिपुराण में समृद्धि, समानता और संगठन पूर्णतया विकसित है। मानव के सर्वांगीण विकास का पता चलता है। सभी लोग सुसंस्कृत, आर्थिक दृष्टि से समृद्ध और भौतिक व अभौतिक सुख-सतुष्टि से युक्त हैं। उनका सामाजिक व अध्यात्मिक धर्म आर्थिक विकास में बाधक न होकर साधक रहा है। भरपूर व खुशहाल जीवन जीने के बाद आध्यात्मिकता की शरण में आकर आत्मिक विकास कर

लेना उनका परम लक्ष्य था। वास्तव में आदिपुराण में धर्म, अर्थ एवं काम के समुचित सन्तुलन की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ-सूची :-

1. आ. पूज्यपाद- सर्वार्थसिद्धि, 3/27, पृ. 232 2. आदिपुराण 16/179 3. वही 39/143 4. वही 16/181 5. वही 16/184 6. वही 16/181 7. वही 3/179-182 8. वही 3/186-187 9. वही 35/37 10. वही 17/157 11. वही 4/72 12. वही 5/104 13. वही 4/72, 5/258-259 14. वही 4/71 15. वही 17/24 16. वही 35/40 17. वही 3/185 18. वही 35/35-36 19. वही 28/130 20. वही 26/120-121, 35/29-30 21. वही 12/244 22. वही 35/30 23. वही 42/176 24. वही 42/177-178 25. वही 16/181 26. वही 42/152-160 27. वही 16/182 28. वही 41/139 29. वही 38/35 "वार्ता विशुद्धवृत्तया स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठिति।" 30. वही 42/150-171 31. वही 42/139-167 32. वही 42/173, उत्तरपुराण 71/52-54 33. वही 16/182 34. वही, "चित्रकलापत्रच्छेदादि बहुधा स्मृतम्।" 35. वही, 16/46-67 36. वही, 37/149-162, 177 37. वही, त्रिलोकसार, गा. 682 38. प. कैलाशचन्द- भगवान ऋभदेव, प्राक्कथन, पृ. 2 39. आदिपुराण 16/187,-242 40. वही, 16/164-165 41. वही, 16/166 42. वही 16/167 43. वही 16/169-170 44. वही 16/245-246 45. वही 16/102-104 46. वही 17/76-77 47. वही 48. वही 42/177-178 49. वही 41/158,42/14, तथा धर्मादिष्टार्थसपत्तिः "5/15, न्यायैकजीविकाः" 18/124 50. वही 20/159 "ब्रह्मचर्यैकतानता।" 20/164 "स्त्रीकथालोकससर्गप्राग्रतस्मृतयोजनाः। वर्ज्या वृष्य रसेनामा चतुर्थव्रतभावना।।" 51. वही 2/23, 20/160, 165 52. वही 42/168, 169 53. वही 42/13

– पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष-अर्थशास्त्र विभाग
दि. जैन कालिज, बड़ौत
180/12, पटेल नगर, मु.नगर

"सागारधर्मामृत में सल्लेखना"

श्री आनन्द कुमार जैन

1. सल्लेखना शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा-

जैन परम्परा के आचार नियमों के अन्तर्गत सल्लेखना एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। सल्लेखना शब्द सत् + लेखना का निष्पन्न रूप है। सत् से तात्पर्य समीचीन या सम्यक् है तथा लेखना शब्द 'लिख्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय होकर स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय के संयोग से निर्मित है।

लिख् धातु कई अर्थों में प्रयुक्त होती है।[1] यथा-

1. लिखना, प्रतिलिपि करना
2. खुरचना, छीलना
3. चराई, स्पर्श करना
4. पतला करना, कृश करना
5. ताड़ पत्र पर लिखने के लिए

किन्तु उक्त विविध अर्थों में से पतला करना, कृश करना या दुर्बल करना अर्थ ही यहाँ अभीष्ट है। आ. पूज्यपाद ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए लिखा है कि- अच्छी प्रकार से काय तथा कषाय का लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है।[2]

2. सल्लेखना के पर्यायवाची नाम-

शास्त्रों में सल्लेखना के अनेक पर्यायवाची नाम मिलते हैं। जिनमें समाधिमरण, संथारा, अन्तिम विधि, आराधनाफल, संलेहणा और सन्यास आदि प्रचलित हैं।

3. समाधि साधक का लक्षण

पं. प्रवर आशाधर जी ने 'सागार धर्मामृत' में पूर्वाचार्यो द्वारा समाधि की परिभाषा को स्वीकार करते हुए अष्टम अध्याय के प्रारम्भ में समाधिसाधक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्धयाऽऽत्मशोधनम्।
यो जीवितान्ते सम्प्रीतः साधयत्येषः साधकः।।[3]

अर्थात् जो मरणान्त में सर्वांगीण ध्यान से उत्पन्न हुये हर्ष से युक्त होकर देह, आहार और मन, वचन तथा काय के व्यापार के त्याग से उत्पन्न ध्यानशुद्धि के द्वारा आत्मशुद्धि की साधना करता है वह साधक है।

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में भी साधक का यही लक्षण बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है कि-

भुक्त्यङ्गेहापरित्यागाद्ध्यानशक्त्याऽऽत्मशोधनम्।
यो जीवितान्ते सोत्साहः साधमत्येषः साधकः।।[4]

अर्थात् जो उत्साहपूर्वक मरण समय में भोजन, शरीर तथा अभिलाषा के त्यागपूर्वक अपनी ध्यानजनित शक्ति से आत्मा की शुद्धता पूर्वक साधना करता है। उसे साधक कहते हैं।

4. सल्लेखना के भेद

सागारधर्मामृत में कहीं भी सल्लेखना के भेदों का वर्णन नहीं है। धवला टीका, भगवती आराधना तथा अन्य सल्लेखना सम्बन्धी ग्रन्थों में दो या तीन भेदों का प्रायः वर्णन मिलता है।

सामान्य रूप से सल्लेखना के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो भेद भगवती आराधना में वर्णित हैं-

सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे।।[5]

अर्थात् सल्लेखना दो प्रकार की है आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर सल्लेखना कषायों मे होती है और बाह्य सल्लेखना शरीर में

इसी प्रकार धर्मसंग्रह श्रावकाचार मे भी वर्णित है कि– क्रम-क्रम से रागादि के घटाने को बाह्य सल्लेखना कहते हैं। राग, द्वेष, मोह, कषाय, शोक और भयादि का त्याग करना हितकारी आभ्यन्तर सल्लेखना है।

अन्न, खाने योग्य वस्तु, स्वाद लेने योग्य वस्तु तथा पीने योग्य वस्तु- इस प्रकार चार तरह की भुक्ति का सर्वथा त्याग करना यह बाह्य सल्लेखना है।[6]

द्रव्य तथा भाव रूप दो भेद-

पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में आ. जयसेन ने द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना इन दो भेदों का कथन किया है। वे लिखते हैं कि– आत्मसंस्कार के पश्चात् उसके लिए (साधक के लिए) ही क्रोधादि कषायरहित अनन्तज्ञानादि गुण लक्षण परमात्मपदार्थ में स्थित होकर रागादि विकल्पों का कृश करना भाव सल्लेखना है और उस भाव सल्लेखना के लिए काय क्लेश रूप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजन आदि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य सल्लेखना है।[7]

सल्लेखनाऽसंलिखतः कषायान्निष्फला तनोः।
कायोऽजडैर्दण्डयितुं कषायानेव दण्डयते।।[8]

कषायों को न घटाने वाले के लिए शरीर का घटाना निष्फल है, क्योंकि ज्ञानियों द्वारा कषायों का निग्रह करने के लिए ही शरीर कृश किया जाता है।

इस कथन से स्पष्ट है कि कषायों को कृश करने पर शरीर निश्चित ही कृश होता है, किन्तु शरीर कृश करने पर कषायें कृश हो भी सकती है और नहीं भी। क्योंकि आहार के द्वारा मदोन्मत्त होने वाले पुरुष को कषायों का जीतना असम्भव ही है।[9]

समाधि के भक्तप्रत्याख्यानादि तीन भेदः-

धवला टीका के लेखक आ.वीरसेन ने सल्लेखना के प्रायोपगमन, इंगिनीमरण तथा भक्तप्रत्याख्यान इस प्रकार तीन भेद किये है।

वे कहते हैं कि-

तत्रात्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमन्। आत्मोपकारसव्यपेक्षं

परोपकारनिरपेक्षं इंगिनीमरणम्। आत्मपरोपकार सव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति। [ध/1/1,1,1/23/24]

अर्थात् अपने और पर के उपकार की अपेक्षा रहित समाधिमरण करना प्रायोपगमन है तथा जिस संन्यास में अपने द्वारा किये गये वैय्यावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इंगिनीमरण समाधि कहते हैं। इसी प्रकार जिस संन्यास में अपने और दूसरे-दोनों के द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा रहती है, उसे भक्तप्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं।

वर्तमान में भक्तप्रत्याख्यान मरण ही उपयुक्त है। अन्य दो अर्थात् इंगिनीमरण तथा प्रायोपगमन सम्भव नहीं हैं, क्योंकि ये दो मरण संहनन विशेष वालों के ही होते हैं। इंगिनीमरण के धारक मुनि प्रथम तीन (वज्रवृषभ नाराच, वज्रनाराच तथा नाराच) संहननों में से कोई एक संहनन के धारक रहते हैं।[10] किन्तु इस पंचम काल में मात्र असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ही होता है अतएव भक्तप्रत्याख्यान मरण ही संभव है।

5. भक्तप्रत्याख्यान की स्थिति

धवलाकार वीरसेन स्वामी ने भक्तप्रत्याख्यान के जघन्य मध्यम और उत्तम इन तीन भेदों का वर्णन करते हुए कहा है कि-

तत्र भक्तप्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात्। जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्। उत्कृष्टभक्तप्रत्याख्यानं द्वादश वर्षप्रमाणम्। मध्यमेतयोरन्तरालामिति।[11]

अर्थात् भक्तप्रत्याख्यान की विधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की है। जघन्य का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त मात्र है। उत्कृष्ट का बारह वर्ष है। इन दोनों का अन्तरालवर्ती सर्व काल प्रमाण मध्यम भक्तप्रत्याख्यान मरण का है।

6. सल्लेखना योग्य स्थान

योग्य स्थान विशेष के प्रसङ्ग में पं. आशाधर जी कहते हैं कि उपसर्ग से यदि कदलीघात मरण की स्थिति उत्पन्न हो तो साधक योग्य स्थान का विकल्प त्यागकर भक्तप्रत्याख्यान मरण को धारण करे। इसी विषय

को स्पष्ट करते हुये उन्होंने लिखा है कि–

भृशापर्वतकवशात् कदलीघातवत्सकृत्।
विरमत्यायुषि प्रायमविचारं समाचरेत्।।[12]

अर्थात् अगाढ़ अपमृत्यु के कारणवश कदली घात के समान एक साथ आयु के नाश की उपस्थिति होने पर साधक विचार रहित अर्थात् समाधि के योग्य स्थान का विचार न करके भक्तप्रत्याख्यान को स्वीकार करे।

सल्लेखना हेतु योग्य स्थान को इङ्गित करते हुए धर्मसंग्रह श्रावकाचार में कहा है कि–

संन्यासार्थी ज्ञकल्याणस्थानमत्यन्तपावनम्।
आश्रयेतु तदप्राप्तौ योग्यं चैत्यालयादिकम्।।[13]

अर्थात् संन्यास (सल्लेखना) के अभिलाषी पुरुषों को चाहिए कि जिस स्थान में जिन भगवान् का ज्ञान कल्याणक हुआ है। ऐसे पवित्र स्थान का आश्रय ग्रहण करें और यदि ऐसे स्थानों की कारणान्तरों से प्राप्ति न हो सके तो जिन मन्दिरादि योग्य स्थानों का आश्रय लेना चाहिए। कदाचित् साधक द्वारा स्थान की खोज करते हुए यदि रास्ते में भी मरण हो जाये तो भी वह श्रेष्ठ माना गया है। इस सम्बन्ध में पं. मेधावी ने अपने धर्मसंग्रह में कहा है कि सल्लेखना बुद्धि से किसी तीर्थ स्थान को यदि गमन किया हो और वहाँ तक पहुँचने से पहले ही यदि मृत्यु हो जाय तो भी वह आराधक है, क्योंकि समाधिमरण के लिए की हुई भावना भी संसार का नाश करने वाली है।[14]

पद्म कृत श्रावकाचार में मरण स्थान के लिये प्रासुक शिला को उपयुक्त कहा है।[15]

7. स्त्रियों के लिए निर्देश

वैसे तो स्त्रियों के लिए जिनेन्द्र भगवान् ने अपवादलिङ्ग (सवस्त्र

दीक्षा) ही कहा है, परन्तु अन्त समय में जिसने परिग्रहादि उपाधियाँ छोड़ दी हैं, वे स्त्रियाँ भी पुरुष के समान औत्सर्गिक लिङ्ग (निर्वस्त्र दीक्षा) ग्रहण कर सकती हैं।[16]

8. विचलित साधक का स्थितिकरण

जब कोई साधक स्वीकार किये गये समाधिमरण से विचलित होने लगता है, तब निर्यापकाचार्य का कर्तव्य है कि वह साधक का स्थितिकरण करे, क्योंकि जब कोई सल्लेखना धारक अन्नजल के त्यागोपरान्त विचलित होकर पुनर्ग्रहण की भावना करे, तो उसे ग्रहण करने योग्य विविध प्रकार की उत्तम सामग्री दिखाना चाहिए। यदि कदाचित् अज्ञानता के वशीभूत होकर वह आसक्त होने लगे तो शास्त्र सम्मत अनेक कथाओं द्वारा साधक के वैराग्य में मदद करनी चाहिए। साथ ही यह भी बताना चाहिए कि तीनों लोकों में एक भी ऐसा पुद्गल परमाणु शेष नहीं है, जिसे इस शरीर ने नहीं भोगा है। अतः इस मूर्तिक (भोजनादि) से अमूर्तिक आत्मद्रव्य का उपकार किसी भी परिस्थिति में सम्भव नहीं है। अपितु यह तो वह अद्भुत समय है जब मन की एकाग्रता अन्य विषयों से हटाकर आत्मकल्याण की भावना में नियुक्त करने पर अनन्तानन्त काल से बंधे हुए कर्मों की निर्जरा शीघ्र होती है, क्योंकि अन्त समय का दुर्ध्यान अधोगति का कारण बन जाता है। इसी अन्त समय की लालसा के दुष्परिणाम को दर्शाते हुए सागारधर्मामृत में स्पष्ट लिखा है कि–

क्वापि चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तद् ध्रुवं परेः।
तं कृमीभूय सुस्वादुचिर्भटा सक्त भिक्षुवत्।।[17]

अर्थात् जिस पुद्गल में आसक्त होकर जीव मरेगा उसी जगह उत्पन्न होकर संचार करेगा। जैसे तरबूज में आसक्त होकर मरा साधु उसी मे कीड़ा बनकर उत्पन्न हुआ था।

9. पित्तादि से पीड़ित श्रावक विशेष को निर्देश

अन्त समय में साधक पुद्गल में आसक्त न हो इसका ध्यान रखते हुए निर्यापकाचार्य पित्तादि से पीड़ित साधक को मरण से कुछ समय पूर्व ही जल का त्याग करवाते हैं। धर्मसंग्रह श्रावकाचार में इसी बात का निर्देश करते हुए प. मेधावी कहते हैं कि– पित्तकोप, ऊष्णकाल, जलरहित प्रदेश तथा पित्तप्रकृति इत्यादि में से किसी एक भी कारण के होने पर निर्यापकाचार्य को समाधिमरण के समय जल पीने की आज्ञा उसके लिए देनी चाहिए तथा शक्ति का अत्यन्त क्षय होने पर एवं निकट मृत्यु को जानकर धर्मात्मा श्रावक को अन्त में जल का भी त्याग कर देना चाहिए।[18]

अन्त समय तक जल के निर्देश के पीछे गहरा भाव छिपा है, जिसका अभिप्राय है कि धर्म सहित मरण ही सफलता का सूचक है और इसी बात की पुष्टि करते हुये पं. आशाधर जी ने कहा कि–

आराद्धोऽपि चिरं धर्मो विराद्धो मरणे सुधा।
सत्वाराद्धस्तत्क्षणेऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितम्।।[19]

अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु पूर्व तक भी धर्म पालन किया, परन्तु मरण समय धर्म की विराधना होती हैं तो किया गया धर्म व्यर्थ है। किन्तु जीवन भर कुछ भी नहीं किया और मरण धर्मसहित किया तो वह धर्म चिरकाल मे संचित पापों का प्रक्षालन करने वाला है।

इसी बात को एक दृष्टान्त के माध्यम से वे कहते हैं कि जीवन-भर राजा शस्त्र चलाना सीखे और युद्धक्षेत्र में शस्त्र चलाना भूल जाय तो जीवन भर किया गया समस्त शस्त्राभ्यास व्यर्थ है।[20]

10. समाधि साधक की आद्यान्त क्रियायें

साधक द्वारा जो भी पाप कृत, कारित, अनुमोदना से पूर्व मे जीवनपर्यन्त गृह व्यापार में हुए है अथवा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय,

प्रमाद, योग, बुरी सङ्गति आदि अन्य कारणों से हुए हैं, उन सभी पापों का नाश करने के लिये साधक को आचार्य के समक्ष आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवित-इन दश दोषों से रहित होकर स्वयं आलोचना करनी चाहिए। तदनन्तर संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर समस्त महाव्रत धारण करना चाहिये। इसमें प्रथम शरीरादिक एवं भाई, बन्धु आदि कुटुम्बी लोगों में निर्ममता (अपनत्व त्याग) का चिन्तवन कर बाह्य परिग्रह का त्याग करना तत्पश्चात् शोक, भय, स्नेह, कलुषता, अरति, रति, मोह, विषाद, रागद्वेष आदि को छोड़ कर अंतरङ्ग परिग्रह का त्याग करना चाहिये, साथ ही बारह प्रकार के व्रतों को ग्रहण करना चाहिये। इसके पश्चात् सिद्धान्त ग्रन्थों का अमृतपान तथा महा आराधना अर्थात् समाधि से सम्बन्धित ग्रन्थों को पढ़कर और तत्त्व एवं वैराग्य का निरूपण करने वाले ग्रन्थों को पढ़कर मन शान्त करना चाहिये। इनके अध्ययन के साथ ही अवमौदर्य तप के द्वारा आहार को प्रतिदिन घटाना चाहिए और अनुक्रम से घटाते-घटाते हुए समस्त आहार का त्याग कर देना चाहिए। फिर उसका भी त्यागकर तक्र (मठा) एवं छाछ का सेवन करना चाहिए। फिर उसका भी त्यागकर गर्म जल ही ग्रहण करें तथा जब तक पूर्ण रूप से अन्त समय निकट न हो तब तक जल का त्याग न करें और अन्त समय निकट आते ही उसका भी त्याग कर शुभ उपवास धारण करें। सिद्धान्त शास्त्रों के पारगामी निर्यापक महाचार्य को निवेदन कर उनकी आज्ञानुसार जन्मपर्यन्त तक के लिये उपवास धारण करना एवं बहुत यत्न से उसका निर्वाह करना चाहिए। अन्त समय निकट होने पर पाँचों परमेष्ठियों के नाम का मन्त्र जाप करना चाहिए। यदि इसके उच्चारण में असमर्थ हो तो तीर्थंकर के वाचक 'णमो अरिहंताणं' इस एक ही पद का जप करें। यदि वचनों से उच्चारण में असमर्थ हो तो मन में ही जप करें। यदि मन में भी जप करने में असमर्थ हो तो उत्तर साधना करने वाले, वैयावृत्य करने वाले, अन्य लोग प्रतिदिन उसके कान में मन्त्रराज का पाठ सुनायें। इस प्रकार आराधक को मोक्ष प्राप्ति के लिये अन्त में जिन मुद्रा धारण कर प्राणोत्सर्ग करना चाहिए।

11. सल्लेखना के अतिचार

पं. प्रवर आशाधर जी ने पाँच अतिचारों से रहित सल्लेखना विधि में क्षपक प्रवृत्ति करे, इस प्रकार का उपदेश देते हुए कहा है कि–

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागं सुखानुबन्धमजन्।
स निदानं संस्तरगश्चरेच्च सल्लेखना विधिना।।

अर्थात् संस्तर (सल्लेखना) में स्थित क्षपक जीवन तथा मरण की इच्छा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान को छोड़ते हुए सल्लेखना विधि से आचरण करे।

जीवनाकांक्षा- सल्लेखना के समय अपनी प्रसिद्धि देखकर अपनी सेवा करने वालों को देखकर, अपनी महिमा जानकर या अन्य किसी कारण से और जीने की आकांक्षा रखने वाले को जीवनाकांक्षा रूप अतिचार लगता है।

मरणाशंसा- रोगादिक से प्राप्त कष्ट से जिस साधक का मन संक्लेशित होने लगे और पीड़ा सहन न कर पाने की स्थिति में शीघ्र मरण की भावना करना मरणाशंसा है।

सुहृदनुराग- बाल्यावस्था में अपने साथ खेलने वाले, बुरे समय में साथ देने वाले मित्रों से मृत्यु से पूर्व मिलने की आकांक्षा सुहृदनुराग है।

सुखानुबन्ध- पूर्व में भोगे गये भोगों का स्मरण करना तथा उनमें अनुराग रखना। सुखानुबन्ध नामक अतिचार है।

निदान- समाधि के कठिन तपों के प्रभाव से जन्मान्तर में मुझे उच्च कोटि का वैभव प्राप्त हो, इस प्रकार की भावना निदान नामक पाँचवाँ अतिचार है।

12. समाधि का फल

समाधिमरण की विस्तृत विधि का कथन करने के उपरान्त अतिचारों का भी विधिवत् निरूपण सागारधर्मामृत में है, इसके पश्चात्

विधिपूर्वक मरण प्राप्त करने वाले जीव को स्वर्गादि अभ्युदयों की प्राप्ति होगी ऐसा निर्देश करते हुए पं. आशाधर जी कहते हैं। कि–

श्रावको श्रमणो वान्ते कृत्वा योग्यां स्थिराशयः।
शुद्धस्वात्मरतः प्राणान् मुक्त्वा स्यादुदितोदितः ।।[21]

अर्थात् जो श्रावक अथवा मुनि आगे कही जाने वाली विधि के अनुसार एकाग्र चित्त से अपनी शुद्धात्मा में लीन होकर प्राण छोड़ता है उसे स्वर्गादि अभ्युदयों की प्राप्ति होती है तथा मोक्ष का भागी होता है। यह कथन वर्तमान हुंडावसर्पिणी काल को ध्यान में रखकर कहा गया है। अन्य ग्रन्थकारों ने लिखा है कि उत्तम समाधि धारक मोक्ष प्राप्त करता है। मध्यम समाधि धारक सर्वार्थसिद्धि, ग्रैवेयको, परमोत्तम सोलहवें स्वर्ग में, सौधर्मादि स्वर्गो मे भोगों को भोगकर अन्त में तीर्थंकर या चक्रवर्ती पद की प्राप्ति करता है। जो जघन्य रीति से धारण करता है। वह देव एवं मनुष्यों के सुखों को भोगकर सात-आठ भव मे मोक्ष प्राप्त करता है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है–

शरीर ही धर्म का मुख्य साधन है इसलिए यदि शरीर रत्नत्रय की साधना में सहयोगी हो तो उसे जबरदस्ती नष्ट नहीं करना चाहिए और यदि वह छूटता हो तो उसका शोक नहीं करना चाहिए। क्योंकि मृत्यु तो अवश्यंभावी है और किसी के द्वारा भी तद्भवमरण प्राप्त जीव की रक्षा संभव नहीं है।[22] सत्य तो यह है कि शरीर का त्याग करना कठिन नहीं है, किन्तु चारित्र का धारण करना और उसके द्वारा धर्मसाधना करना दुर्लभ है।[23] यदि शरीर स्वस्थ हो तो आहार-विहार से स्वस्थ बनाये, यदि रोगी हो तो औषधि से भी अधर्म का ही साधन बने या रोग वृद्धिगंत हो तो दुर्जन की तरह इसको छोड़ना ही श्रेयस्कर है।[24] वस्तुतः यह धर्म ही इस शरीर को इच्छित वस्तु प्रदान करने वाला है। शरीर तो मरणोपरान्त पुनः सुलभ है किन्तु धर्म अत्यन्त दुर्लभ है।[25]

सल्लेखना आत्महत्या नहीं

पं. आशाधर जी ने कहा है कि विधिपूर्वक प्राणों को त्यागने में आत्मघात का दोष नहीं लगता है, अपितु क्रोधादि के आवेश से जो विषपान करके या शस्त्रघात द्वारा या जल में डूबकर अथवा आग लगाकर प्राणों का घात करता है। वह आत्मघाती है, न कि वह व्यक्ति जो व्रतों के विनाश के कारण उपस्थित होने पर विधिवत् भक्तप्रत्याख्यान आदि के द्वारा सम्यक् रीति से शरीर त्यागता है।[26]

आ. समन्तभद्र ने पहाड़ से गिरना, अग्नि या पानी में कूदकर प्राण विसर्जन करने को लोकमूढ़ता कहा है।[27]

इन्हीं अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए कबीरदास ने कहा है। कि गगा मे नहाने से पाप धुलते और वेकुठ की प्राप्ति होती तो सारे जलचर बैकुण्ठ में होते और सिर का मुण्डन होने से स्वर्ग प्राप्ति होती तो भेड़ सीधे स्वर्ग जाती।[28]

जहाँ तक व्रतों की रक्षा का प्रश्न है, इस पर एक महत्त्वपूर्ण तथ्य जोड़ते हुए प. कैलाशचन्द्र शास्त्री सागारधर्मामृत की टीका के विशेषार्थ मे लिखते हैं कि मुस्लिम शासन में न जाने कितने हिन्दु इस्लाम धर्म को स्वीकार न करने के कारण मार दिये गये, तो क्या इसको आत्मघात कहा जायेगा। जैनधर्म में भी समाधिमरण उसी परिस्थिति मे धारण करने योग्य है जब मरण टाले भी नहीं टलता। अतः व्रतों की रक्षा एव शरीर की रक्षा– इनमें से किसी भी एक को चुनना हो तो सभी दर्शनो (चार्वाक को छोड़कर) ने व्रतों की रक्षा का ही समर्थन किया है। किन्तु जब तक शरीर विधिवत् कार्य कर रहा है, तब तक उसे नष्ट न करना और जब सकल उपायों मे भी धर्म का विनाशक ही सिद्ध होता हो, तो ऐसी परिस्थिति में इसको त्यागना उचित है।

वैसे तो प्राणों का विसर्जन युद्धक्षेत्र में भी होता रहा है। लाखों हिन्दुस्तानियों ने देश की रक्षा के लिए अपने प्राण न्योछावर किये है, इसे

बलिदान की संज्ञा दी गई है न कि आत्महत्या कहा गया है। झाँसी की रानी ने जीते जी अंग्रेजों के हाथ में न आने की कसम ली थी और इसे पूरा भी किया तो क्या इसे आत्महत्या कहा जायेगा? इनके द्वारा मृत्यु के सहर्ष आलिङ्गन करने को किसी ने आत्महत्या नहीं कहा अपितु सभी ने बलिदान ही कहा है। धर्म और कानून की नजरों में भी इस प्रकार की मृत्यु बलिदान शब्द से परिभाषित है, न कि आत्महत्या से। प्रसिद्ध नीतिकार भर्तृहरि कहते हैं कि कोई चाहे न्यायसंगत आचरण की निन्दा करे अथवा प्रशंसा, उससे आर्थिक लाभ हो या हानि तुरन्त मरण प्राप्त हो जाय या सैकड़ों वर्षों तक जियें किन्तु धीर-वीर पुरुष न्याय मार्ग से च्युत नहीं होते हैं।

यहाँ भी नीतिकार ने धर्म और न्याय की रक्षा के लिए अपने प्राणों का परित्याग करना श्रेष्ठ कहा है उसे आत्महत्या नहीं कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी सल्लेखना को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता है।

– राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान,
श्रवणबेलगोला

1. आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश
2. सर्वार्थसिद्धि- सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। 7/22/पृ.280
3. सागारधर्मामृत 8/1
4. धर्मसंग्रह श्रावकाचार 7/1
5. भगवती आराधना श्लोक सं. 206
6. सल्लेखनाऽथवा ज्ञेया बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
   रागादीनां चतुर्भुक्तेः क्रमात्सम्यग्विलेखनात्।।
   रागो द्वेषश्च मोहश्च कषायः शोकसाध्वसे।
   इत्यादीना परित्यागः साऽन्तः सल्लेखना हिता।।
   अन्नं खाद्यं च लेह्यं च पानं भुक्तिश्चतुर्विधा।
   उज्झन सर्वथाऽप्यस्या बाह्या सल्लेखना मता।।

धर्मसंग्रह श्रावकाचार 30 से 32

7. आत्मसंस्कारानन्तरं तदर्थमेव क्रोधादिकषाय रहितानन्त-ज्ञानादिगुण-लक्षणपरमात्मपदार्थे स्थित्वा रागादिविकल्पानां सम्यग्लेखनं तनुकरणं भावसल्लेखना, तदर्थं कायक्लेशानुष्ठानं द्रव्यसल्लेखना।

[पचास्तिकाय टीका तात्पर्यवृत्ति 176/253/17]

8. सागारधर्मामृत, अध्याय आठ. श्लोक 22

9. अन्धो मदान्धैः प्रायेण कषायाः सन्ति दुर्जयाः।
ये तु स्वांगान्तरज्ञानात्तान् जयन्ति ते।। सा. धर्मामृत 8/23

10. आद्येषु त्रिषु संहननेषु अन्यतमसंहननः शुभसंस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितनिद्रो नितरा शूरः।

भगवती आराधना

11. धवला 1/1,1,1/24/1

12. सागार धर्मामृत, अध्याय 8, श्लोक 11

13. धर्मसगहश्रावकाचार श्लोक-42

14. प्रस्थितः स्थानतस्तीर्थे म्रियते यद्यवान्तरे।
स्यादेवाऽऽराधकस्तद्वि भावना भवनाशिनी।।
धर्मसंग्रह श्रावकाचार, सप्तम अध्याय, श्लोक सं. 42

15. प्रासुक भूमि शिला पर ए, नरेसुआ, कीजे संथारा सार।
कठिण कोमल समता भावि ग, नरेसुआ, कीजे नहीं खेद विकार।।
पद्मकृत श्रावकाचार, दोहा सं. 67

16. यदापवादिकं प्रोक्तमन्यदा जिनपैः स्त्रियः।
पुवंद्भण्यते प्रान्ते परित्यक्तोपधे किल।।
धर्मसंग्रह श्रावकाचार सप्तम अध्याय, श्लो. 50

17. सागारधर्मामृत, अष्टम अध्याय, श्लोक 53

18. रूजाद्यपेक्षया वाडम्भः सत्समाधौ विकल्पयेत्।
मुञ्चेत्तदपि चासन्न मृत्युः शक्तिक्षये भृशम्।।
धर्मसंग्रहश्रावकाचार

19. सागारधर्मामृत, अध्याय आठ, श्लोक. स. 16

20. नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोडरत्रवत्।
सुधीव स्खलतो मृत्यौ स्वार्थऽभ्रंशोऽयशः कटुः।।

21. सागार धर्मामृत, अध्याय आठ, श्लोक स. 25

22 न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्य वपुर्बुधैः।
न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम्।।

23 गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किन्तु गहनमिह वृत्तम्।।
तन्न स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं शोच्यमिदमाहु ।।

24 काय स्वस्थोऽनुवर्त्य स्यात् प्रतीकार्यश्च रोगित ।
उपकार विपर्यस्यस्त्याज्य सद्भि खलो यथा।।6।।

25 नावश्य नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामद ।
देहो नष्टो पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभ।।7।।

26. न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतो वपुरुपेक्षितु ।
कषायावेशत प्राणान् विषाधैर्हिंसत. सहि।।8।।

27 आपगा सागर स्नानमुच्चय सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढ निगद्यते।।22।।
रत्नकरण्ड श्रावकाचार

28 मूड मुडाये जो सिधि होई।
स्वर्ग ही भेड न पहुची कोई।।

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।
दह्यमान मृगाकीर्णवनान्तर तरुस्थवत्।। इष्टोपदेश – 14

दावानल में जलते हुए जीवों को देखने वाले किसी वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की तरह यह संसारी प्राणी दूसरों की तरह अपने ऊपर आने वाली विपत्तियो का ख्याल नही करता है।

सागार धर्मामृत में ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन

– पं. पुलक गोयल

भ. महावीर की वाणी का संरक्षण प्राचीन काल से जैन आचार्यों ने अपना प्रमुख कर्तव्य मानकर किया। संरक्षण, ग्रन्थों में लिपिबद्ध करने मात्र से नहीं हो सकता था, वाणी के अनुसार आचरण भी शुद्ध रखना आवश्यक था। अतः आचरणवान् (मुनि) ही जिनागम का संकलन (लेखन) कर सकता है, यह मान्यता अभी भी बहुमत में है। वस्तुतः आचरणहीन व्यक्ति आगम से भी अपने शिथिलाचार के पोषण करने की वांछा रखता है। यही कारण है कि सभी ग्रन्थकर्ता महान् ज्ञाता होने के साथ ही आचरण करने एवं कराने वाले आचार्य हुए हैं।

परन्तु परिस्थितियाँ हमेशा अनुकूल नहीं रहतीं हैं। जैन साधुओं से ओतप्रोत इस भारत वसुधा पर कई बार जैन संतों एवं जैन ग्रन्थों का कत्लेआम भी हुआ। प्रारम्भ से ही वेद-विरोधी होने के कारण आपत्तियाँ आती रहीं है और जैन आगम के ज्ञाता, वक्ता और श्रोता जुगनुओं की तरह कहीं-कहीं दृष्टि गोचर होने लगे।[1]

सिद्धांत कभी नहीं बदलता, परन्तु आचरण में परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन होता रहता है। उस समय भी जैनत्व की रक्षा के लिए कुछ मुनियों ने सार्वजनिक स्थानों पर कोपीन पहनकर निकलना और एक ही स्थान (मठादि) में बने रहना प्रारम्भ किया और भट्टारक युग का प्रारम्भ हो गया। भट्टारकों का अस्तित्व मुगल शासन से एवं अन्य विरोधियों से अपने जिन मंदिर, जिन मूर्तियाँ और जैन शास्त्रों का संरक्षण के लिए था। संरक्षण का कार्य तो उन्होंने बहुत किया परन्तु ज्ञान का प्रचार-प्रसार रुक सा गया। ज्ञान न होने के कारण श्रावकों का आचरण दिन-प्रतिदिन शिथिलता को प्राप्त होता गया।

यही अवसर था जब पं. आशाधर जी ने श्रावकों में व्याप्त इस

शिथिलाचार को दूर करने के लिए और मुनियों का वास्तविक आचरण बताने के लिए "धर्मामृत" ग्रन्थ की रचना की तथा स्वयं ही इस ग्रन्थ के पदकृत्य भी लिखे। स्वोपज्ञ टीका होने से यह ग्रन्थ जिनागम के अन्य प्रमाणों का भी सटीक संकलन हो गया। इस ग्रन्थ का श्रावकोपयोगी भाग "सागार धर्मामृत" नाम से प्रसिद्ध है। तथा इस ग्रन्थ का परिगणन उत्कृष्ट श्रावकाचारों में भी होता है।

जैनाचार्यों ने श्रावक की चर्या को भी धर्म (संयम) माना है।[2] यह धर्म औपचारिक नहीं है अपितु कर्म निर्जरा का प्रमुख स्थान है। श्रावक की चर्या करने वाला मनुष्य या तिर्यञ्च सामान्य सम्यग्दृष्टि से भी अधिक निर्जरा जीवनभर करता रहता है।[3] असंख्यात् गुणीत होने वाली निर्जरा में श्रावक की दैनिक चर्या अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अनेक श्रावकाचारों में श्रावक की इस चर्या को समझाने के लिए ग्यारह प्रतिमाओं का सहारा लिया है।

जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिमाओं का मात्र नाम निर्देश ही किया है, वहीं श्रावकाचार ग्रन्थ के आद्य प्रणेता आचार्य समन्तभद्र ने ग्यारह प्रतिमाओं को परिभाषित करते हुए श्रावकों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। प्रायः सभी श्रावकाचारकारों ने आ. समन्तभद्र के आशय को मूल में रखकर श्रावक की क्रियाओं को अपने-अपने युग में और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

वर्तमान युग में भी प्रतिमाधारी श्रावकों के मन में जिज्ञासाओ का समुद्र हिलोरे मारता रहता है। किस प्रतिमा तक व्यापार किया जा सकता है? किस प्रतिमा तक वाहन का प्रयोग संभव है? क्या द्वितीय प्रतिमा की सामायिक तृतीय प्रतिमा की सामायिक से भिन्न है? छठवीं प्रतिमा से पहले क्या रात्रि भोजन करा सकते हैं? और भी बहुत सारे प्रश्न श्रावकों के मानस-पटल में यदा-कदा आते रहते हैं। इन में से कुछ प्रश्नों का तार्किक समाधान पं. आशाधर जी ने अपने ग्रन्थ में संकलित किया है। अतः सागार धर्मामृत के आधार से यहाँ ग्यारह प्रतिमाओं का

क्रमशः स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

प्रतिमा स्वरूप पर विचार करते हुए उसके लक्षण श्रावकाचारों के आधार पर निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

1. प्रतिज्ञा को प्रतिमा कहा गया है जो कि अभिसन्धिकृताविरति नाम से उल्लिखित की जा सकती है।
2. चारित्रधारण की प्रक्रिया में जब भोगों के प्रति विरक्ति होती है, संयम का प्रादुर्भाव होता है और प्रतिज्ञा का उदय होता है, इस स्थिति का नाम प्रतिमा है।
3. श्रावक के वे ग्यारह पद जिनमें निश्चय से प्रत्येक पद के गुण अपने से पूर्ववर्ती गुणों के साथ क्रम से बढ़ते हुए रहते हैं, प्रतिमा कहलाती है।
4. दर्शनमोह कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व के अनुदय तथा सम्यक्-प्रकृति के यथास्थिति रूप अनुदय एवं उदय और अनंतानुबंधी तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय क्षयोपशम से चारित्र की गतिमान स्थिति को प्रतिमा कहते हैं।[4]

प्रतिमाओं के भेद के विषय में प्रायः एकमतता परिलक्षित होती है, केवल आ. कार्तिकेय स्वामी इसके अपवाद है। उन्होंने अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थ में प्रतिमाओं की संख्या बारह मानी है।[5] प्रथम प्रतिमा में सामान्य आचरण को अनिवार्य बताया है, शेष ग्यारह आ. कुन्दकुन्द के वर्णन के समान ही हैं। अन्य सभी श्रावकाचारकर्ताओं ने भी, जिन्होंने प्रतिमाओं का उल्लेख किया है, प्रथम दर्शन प्रतिमा से पूर्व सामान्य आचरण का संकेत किया है, परन्तु उसे प्रतिमा का दर्जा नहीं दिया।

पं. आशाधर जी द्वारा मान्य प्रतिमाओं का नाम निर्देश क्रमानुसार निम्नलिखित है-[6]

1. दर्शन प्रतिमा
2. व्रत प्रतिमा

3. सामायिक प्रतिमा
4. प्रोषध प्रतिमा
5. सचित्त त्याग प्रतिमा
6. रात्रि भक्त प्रतिमा
7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा
8. आरम्भ त्याग प्रतिमा
9. परिग्रह त्याग प्रतिमा
10. अनुमति त्याग प्रतिमा
11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

इन प्रतिमाओं के छठे भेद को लेकर आचार्यों में मतभेद हैं। आ. समन्तभद्र ने छठी प्रतिमा को रात्रि भुक्ति विरत नाम दिया है। वह रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है। चारित्र-पाहुड (गाथा 21), प्राकृत पंच संग्रह (1/136), बारस अणुपेक्खा (गा.69), गो.जीवकाण्ड (गा.476) और वसुनन्दि श्रावकाचार में छठी प्रतिमा का नाम राइभत्ती ही है। महापुराण में (पर्व 10) में दिवास्त्री संग त्याग नाम दिया है। सोमदेव के उपासकाचार में (853-854 श्लोक) तीसरी प्रतिमा अर्चा, पॉचवीं प्रतिमा अकृषिक्रिया-कृषि कर्म न करना और आठवीं प्रतिमा सचित्त त्याग है। श्वेताम्बर आम्नाय में योगशास्त्र (टीका 3/148), पॉचवीं प्रतिमा पर्व की रात्रि में कायोत्सर्ग करना, छठी प्रतिमा ब्रह्मचर्य, सातवीं प्रतिमा सचित्त त्याग, आठवीं प्रतिमा स्वयं आरम्भ न करना, नवमीं दूसरे से आरम्भ न कराना, दसवीं प्रतिमा उद्दिष्ट त्याग और ग्यारहवीं साधु की तरह निस्संग रहना, केशलोंच करना आदि है। यह अन्तर है।[7]

1. दर्शन प्रतिमा

जिसने (पूर्व अध्यायों में .कहे गये) पाक्षिक श्रावक के आचार के आधिक्य से अपने निर्मल सम्यग्दर्शन को निश्चल बना लिया है, जो

संसार शरीर और भोगों से विरक्त है, अथवा प्रत्याख्यानावरण नामक चारित्रमोह कर्म के उदय से प्रेरित होकर स्त्री आदि विषयों को भोगते हुए भी उनके भोगने का आग्रह नहीं रखता, जिसकी एक मात्र अन्तर्दृष्टि अर्हन्त आदि पॉच गुरुओं के चरणों में ही रहती है, जो मूलगुणों में अतिचारों को जडमूल से ही दूर कर देता है और व्रतिक प्रतिमा धारण करने के लिए उत्कण्ठित रहता है तथा अपने शरीर की स्थिति के लिए (विषय सेवन के लिए नहीं) अपने वर्ण कुल और व्रतों के अनुरूप कृषि आदि आजीविका करता है वह दार्शनिक श्रावक माना गया है।[8]

पं. आशाधर जी ने पाक्षिक श्रावक और दर्शन प्रतिमाधारी में भेद स्पष्ट किया है। पाक्षिक श्रावक सम्यग्दर्शन व अष्टमूलगुण का सातिचार पालन करता है, जबकि प्रथम प्रतिमा में निर्दोष पालन का निर्देश है। अत एव नैगम नय की अपेक्षा पाक्षिक को दार्शनिक कहा है। तथा आपत्तियों से व्याकुल होने पर भी दार्शनिक उसको दूर करने के लिए कभी शासन देवता आदि की आराधना नहीं करता। पाक्षिक तो कर भी लेता है।[9]

2. व्रत प्रतिमा

जिसका सम्यग्दर्शन और मूलगुण परिपूर्ण है तथा जो माया, मिथ्यात्व और निदान रूप तीन शल्यों से रहित है, और इष्ट विषयों में राग तथा अनिष्ट विषयों में द्वेष को दूर करने रूप साम्यभाव की इच्छा से निरतिचार उत्तर गुणों को बिना किसी कष्ट के धारण करता है, वह व्रतिक है।[10]

इस प्रतिमा में श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रतों का निरतिचार पालन करता है। विस्तार भय से यहां सिर्फ नामोल्लेख मात्र किया जा रहा है।

अणुव्रत- 1. अहिंसाणुव्रत

2. सत्याणुव्रत

3. अचौर्याणुव्रत

4. स्वदार संतोषाणुव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत)

5. परिग्रह परिमाणाणुव्रत

गुणव्रत- 1. दिग्विरति व्रत

2. अनर्थदण्ड व्रत

3. भोगोपभोग परिमाण व्रत

शिक्षाव्रत- 1. देशावकाशिक व्रत

2. सामायिक व्रत

3. प्रोषध व्रत

4. अतिथि संविभाग व्रत

द्वितीय प्रतिमा धारी श्रावक गाय, बैल आदि जानवरों के द्वारा आजीविका न करे। अपने उपयोग में लेने पर बाँधे अथवा निर्दयता से न बाँधे। रात्रि में चारों प्रकार के भोजन का त्याग करे। पाक्षिक श्रावक रात्रि में जल, औषधि वगैरह आदि ले सकता है परन्तु व्रती श्रावक नहीं। जमीन आदि में गड़ा धन नहीं लेता तथा अपने धन में भी संदेह हो जाने पर उसको नहीं स्वीकारना चाहिए। द्विदल का सेवन (कच्चे गोरस के साथ) न करे तथा वर्षा काल में पत्ते की शाक-भाजी का सेवन नहीं करे। तथा वनजीविका, अग्निजीविका, शकटजीविका, स्फोटजीविका, भाटकजीविका, यन्त्रपीडन, निलांछन कर्म, असती पोष, सरःशोष, दवदान, विषव्यापार, लाक्षाव्यापार, दन्तव्यापार, केशव्यापार, रसव्यापार आदि क्रूर दयाविहीन कार्यों (खर कर्म) को न करे। प्राणिवध में निमित्त होने से भूमि, मकान, लोहा, गाय, घोड़ा आदि का दान न करे। तथा सम्यग्दर्शन के घातक सूर्यग्रहण में, चन्द्रग्रहण में, संक्रान्ति में और माता-पिता आदि के श्राद्ध में अपना द्रव्य दान न करे।[11]

3. सामायिक प्रतिमा

मोह और क्षोभ से रहित आत्म परिणाम को साम्य कहते हैं। दर्शन मोह जन्य परिणाम मोह है और चारित्रमोह जन्य परिणाम क्षोभ हैं। इनसे रहित परिणाम साम्य हैं। साम्यभाव का धारी सामायिक प्रतिमा वाला है। सामायिक तीनों संध्याओं में की जाती है। उस समय कष्ट आने पर साम्यभाव से विचलित नहीं होना चाहिए। तभी वह सामायिक प्रतिमा कहलाती है।[12]

सामायिक की विधि बताने के लिए आ. समन्तभद्र का अनुसरण किया है। तीन बार चतुरावर्त करके, चार प्रणाम करके जातरूप में स्थित होकर दो आसनों से त्रियोग शुद्ध होकर, तीनों संध्याओं में अभिवन्दन करते हुए सामायिक करनी चाहिए।[13]

सामायिक प्रतिमा वाला भी पूर्व में कहे बारह व्रतों का पालन करता है। उनमें भी सामायिक व्रत है। परन्तु इनमें पर्याप्त अंतर अवलोक्य है। सामायिक व्रत में एक बार या दो बार या तीन बार सामायिक की जाती है परन्तु तृतीय प्रतिमा में तीनों बार नियम पूर्वक सामायिक होनी चाहिए तथा व्रत अतिचार सहित होता है, परन्तु प्रतिमा में निरतिचार पालन की प्रमुखता है। मुनिवत् सामायिक करना इस प्रतिमा का लक्ष्य है। यदि सामायिक व्रत देवालय का शिखर है तो सामायिक प्रतिमा शिखर पर होने वाला कलशारोहण है।[14]

4. प्रोषधोपवास प्रतिमा

जो श्रावक दर्शन, व्रत और सामायिक प्रतिमा में सिद्ध अर्थात् परिपूर्ण होता हुआ प्रोषधोपवास की प्रतिज्ञा के विषयभूत सोलह पहर पर्यन्त साम्यभाव से अर्थात् भाव सामायिक प्रतिमा में सामायिक करते हुए जो स्थिति भावसाम्य की रहती है वैसी ही स्थिति प्रोषधोपवास में सोलह पहर तक रहनी चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि वह सोलह पहर तक ध्यान में बैठा रहता है। मतलब है साम्यभाव के बने रहने से।[15]

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अपराह्न में जिन मंदिर में जाकर सामायिक करके चारों प्रकार के आहार त्याग करके उपवास का नियम कर ले और घर का सब काम-धाम छोड़कर रात्रि को धर्म चिन्तन पूर्वक बितावे। सुबह उठकर क्रिया कर्म करके शास्त्र स्वाध्याय करते हुए अष्टमी या चतुर्दशी का दिन बितावे। फिर सामायिक करके उसी तरह से रात्रि को बितावे। प्रातः उठकर सामायिक करे फिर पूजन करे अनन्तर आहार दान करके, स्वयं भोजन करे।[16]

प्रोषधोपवास के काल में चारों प्रकार का आहार, स्नान, तेल उबटन, गन्ध, पुष्प, विशिष्ट वस्त्राभरण और सावद्य आरम्भ सर्वात्मना छोड़ देता है। ब्रह्मचर्य धारण करता है, शरीर आदि से ममत्व नहीं रखता। परिणामतः वह समीपवर्ती लोगों को भी ऐसे मुनि की तरह लगता है, जिस पर किसी ने वस्त्र डाल दिया है। वह अशुभ कर्म की निर्जरा के लिए मुनि की तरह पर्व की रात बिताता हैं और किसी भी परिषह अथवा उपसर्ग द्वारा समाधि से च्युत नहीं होता है।[17]

प्रोषधोपवास व्रत एवं चतुर्थ प्रतिमा में अंतर सामायिक व्रत एवं तृतीय प्रतिमा के समान यहाँ भी जानना चाहिए। व्रत प्रतिमा पालन के समय में वे अणुव्रतों की रक्षा के लिए होते हैं परन्तु तृतीय एवं चतुर्थ प्रतिमा में निरतिचार अवश्य करणीय होते हैं।

5. सचित्त त्याग प्रतिमा

पूर्वोक्त चार प्रतिमा का निर्वाह करने वाला जो दया मूर्ति श्रावक अप्रासुक अर्थात् अग्नि में न पकाये हुए हरित अंकुर, हरित बीज, जल, नमक आदि को नहीं खाता, उसे शास्त्रकारों ने सचित्त विरत श्रावक माना है।

चित्त अर्थात् जीव, जीव से सहित को सचित्त कहते है। आगम में हरित वनस्पति में अनन्त निगोदिया जीवों का वास कहा है। प्रत्येक

वनस्पति के दो भेद हैं- सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय से साधारण वनस्पति (निगोदिया जीव) रहते हैं उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। ऐसी वनस्पति को पञ्चम प्रतिमाधारी श्रावक पैर से छूने में भी ग्लानि करता है। उसका भक्षण करना तो संभव ही नहीं है।[18]

जिस प्रत्येक वनस्पति के साधारण वनस्पति कायिक जीव नहीं रहता है उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जैसे-पूर्ण पका हुआ केला, पपीता आदि। ऐसी वनस्पति को भी अप्रासुक अवस्था में ग्रहण नहीं करता है। प्रासुक करने की विधि को कार्तिकेयानुप्रेक्षा में अच्छी प्रकार से स्पष्ट किया है। यहाँ प्रासंगिक होने से कथन किया जा रहा है।[19]

1. जो सब्जी सूख चुकी है वह काष्ठ रूप हो जाने से अचित्त है, जैसे सुपारी।
2. जो अग्नि में पका ली गई है वह अचित्त है, जैसे टमाटर की सब्जी आदि।
3. जो तप्त अर्थात् गर्म कर ली गई है, वह अचित्त है जैसे उबला जल, अंदर तक गर्म फल आदि।
4. आम्ल रस तथा लवण मिश्रित का अर्थ यह है कि जिस प्रकार दूध में शक्कर डाली जाती है, उसी तरह यदि वह फल अंदर में भी सर्वांश रूप से अम्ल या लवण से मिश्रित हो गया हो तब वह अचित्त हो जाता है, जो ककडी, सेव आदि में सम्भव नहीं होता। जैसे कच्चे नारियल का पानी सचित्त होता है, उसमें नमक मिर्च का चूर्ण डालकर घोल दिया जाये तो वह अचित्त हो जाता है।
5. यंत्र से छिन्न करने का तात्पर्य यह है कि उस वस्तु को मिक्सी मे डालकर ऐसा छिन्न भिन्न कर लिया जाए कि वह कपड़े में से छन सके। जैसे आम का रस, अनार का रस आदि। केवल चाकू से सेव आदि के चार-छह टुकड़े करने पर वे अचित्त नहीं कहे जा सकते।[20]

सचित्त विरत श्रावकों की दो विशेषताएँ आश्चर्य पैदा करने वाली हैं- एक उनका जिनागम के प्रामाण्य पर विश्वास और दूसरा उनका जितेन्द्रियपना। जिस वनस्पति में जन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते, उसको भी न खाना उनकी दूसरी विशेषता का समर्थन करता है।[21]

6. रात्रि भक्त प्रतिमा-

जो पूर्वोक्त पाँच प्रतिमाओं के आचार में पूरी तरह से परिपक्व होकर स्त्रियों से वैराग्य के निमित्त में एकाग्रमन होता हुआ मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदना से दिन में स्त्री का सेवन नहीं करता, वह रात्रि भक्त व्रत होता है।[22]

यह कहा जा सकता है कि दिन में स्त्री सेवन तो विरले ही मनुष्य करते हैं। इसमें क्या विशेपता हुई। किन्तु जो दिन में केवल काय से ही सेवन नहीं करते वे भी मन से, वचन से और उनकी कृत कारित अनुमोदना से सेवन करते हैं उसी का त्याग छठी प्रतिमा में होता है। वसुनन्दी श्रावकाचार में भी यही वर्णन है।[23]

परन्तु आ.समन्तभद्र ने छठी प्रतिमा की परिभाषा करते हुए चारों प्रकार के आहार का रात्रि में त्याग कहा है। द्वितीय प्रतिमा वाला रात्रि में कदाचित् पानी, औपध आदि ले सकता था। परन्तु यहाँ पानी भी नहीं लेता है।

रात्रि भक्त शब्द का अर्थ दोनों प्रकार से किया जा सकता है। भक्त का अर्थ स्त्री सेवन भी होता है। जिसे भाषा में भोगना कहते हैं और भोजन भी होता है। इस ग्रन्थ के मत से जो रात्रि में स्त्री सेवन का व्रत लेता है वह रात्रि भक्त व्रत है और रत्नकरण्डक के अनुसार जो रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है वह रात्रिभक्त व्रत है।[24]

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा

पहले छह प्रतिमाओं मे कहे गये और क्रम से बढ़ते हुए सयम के अभ्यास से मन को वश में कर लेने वाला जो श्रावक मन-वचन-काय से

मानवी (दैवी), तिर्यञ्चि और उनके प्रतिरूप समस्त स्त्रियों को रात्रि अथवा दिन में कभी भी नहीं सेवन करता है वह ब्रह्मचारी है।[25]

जो ब्रह्म में चरण करता है वह ब्रह्मचारी है। ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं- चारित्र, आत्मा, ज्ञान आदि।[26] अर्थात् निश्चय से तो आत्मा में रमण करने वाला ही ब्रह्मचारी है और व्यवहार में जो सब स्त्रियों के सेवन का त्यागी है। वह ब्रह्मचारी है। इस प्रतिमा से पूर्व वह अपनी विवाहिता पत्नि का सेवन संतानोत्पत्ति के लिए अर्थात् काम पुरुषार्थ के लिए कर सकता था, परन्तु इस प्रतिमा में विवाहिता पत्नी के साथ भी मन वचन काय से अब्रह्म का त्याग होता है। गृह में स्थित होकर भी जो ब्रह्मचर्य का निरतिचार पालन करता है, उसकी प्रशंसा सर्वत्र होती है। गुणभद्राचार्य ने तो निर्दोष ब्रह्मचर्य पालन करने वाले ग्रहस्थ को नमस्कार किया है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा की यह महिमा वास्तव में ब्रह्मचर्य साधना की दुर्लभता का द्योतक है। जिसने कुशील रूपी पाश को तोड़ दिया है। जो युवतीजन के वचन बाणों से अभेद्य है, वास्तव में वह ही शूरवीर है।[27]

8. आरम्भ त्याग प्रतिमा

पहले की सात प्रतिमाओं, संयम में पूर्णनिष्ठ जो श्रावक प्राणियों की हिंसा का कारण होने से खेती, नौकरी, व्यापार आदि आरम्भों को मन-वचन-काय से न तो स्वयं करता है, और न दूसरों से कराता है वह आरम्भ विरत है।[28]

इस प्रतिमा से पूर्व खर कर्मों से आजीविका का निषेध हो चुका था, यहाँ अल्प हिंसा वाले आरम्भ का भी कृत कारित से नहीं करता हुआ स्वयं को प्राणिघात से विरत करता है। रोजगार धन्धे के कामों को आरम्भ कहते हैं क्योंकि उनसे जीवनघात होता है। किन्तु दान-पूजा आदि को आरम्भ नहीं कहते हैं क्योंकि ये प्राणिघात के कारण नहीं हैं, प्राणियों को पीड़ा से बचाकर करने से ही दान पूजा सम्भव होती है।

परन्तु प्राणिवध से रहित व्यापार करना संभव नहीं है। अत एव यहाँ धार्मिक कार्यों पूजा आरती आदि का निषेध नहीं है।

यह श्रावक अपना व्यापार आदि अपने योग्य पुत्रादि को सौंप देता है, आवश्यकता पड़ने पर सलाह और अनुमति भी दे सकता है। वस्त्रों का प्रक्षालन भी प्रासुक जल से स्वयं करता है अथवा साधर्मी से करवाता है। अर्थात् अपने लिए या दूसरे के लिए जिसमें आरम्भ का लेश भी हो उस क्रिया को नहीं करता। जो मुमुक्षु पाप से डरता हुआ भोजन भी छोड़ना चाहता है वह जीवघात वाली क्रियाएँ कैसे कर या करा सकता है?

9. परिग्रह त्याग प्रतिमा

पहले की दर्शन आदि प्रतिमा संवधी व्रतो के समूह से जिसका सन्तोष बढ़ा हुआ है वह आरंभ विरत श्रावक (ये मेरे नहीं हैं और न मैं इनका हूँ) ऐसा संकल्प करके मकान, खेत आदि परिग्रहों को छोड़ देता है उसे परिग्रह विरत कहते हैं।[29]

परिग्रह मे जो ममत्व भाव होता है उसके त्याग पूर्वक परिग्रह के त्याग को परिग्रह विरत कहते हैं। ये मेरा नहीं है और न मैं इनका हूँ, इसका मतलब है कि न मैं इनका स्वामी और भोक्ता हूं और न ये मेरं स्वत्व और भोग्य हैं। इस संकल्प पूर्वक परिग्रह का त्याग किया जाता है।

परिग्रह क्रोधादि कषायों की, आर्त और रौद्र ध्यान की, हिंसा आदि पाँच पापों की तथा भय की जन्मभूमि है, धर्म और शुक्ल ध्यान को पास भी नहीं आने देती ऐसा मानकर दस प्रकार के बाह्य परिग्रह से निवृत्त संतोषी श्रावक परिग्रह त्यागी होता है।[30]

पं. आशाधर जी ने अपनी पूर्ण सम्पदा का मकान, स्वर्ण आदि का सकलदत्ति पूर्वक अन्वय दान करने की विधि बताते हुए वस्त्र मात्र

परिग्रह रखने और मकान में रहते हुए स्त्री-पुत्रादि से भी लगाव घटाने का संकेत दिया है।[31]

10. अनुमति त्याग प्रतिमा

दार्शनिक आदि नौ प्रतिमाओं के अनुष्ठान में तत्पर जो श्रावक धनधान्य आदि परिग्रह, कृषि आदि आरम्भ और इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कर्म में मन-वचन-काय से अनुमति नहीं देता वह अनुमति विरत है।[32]

दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक की विशेष विधि का कथन लाटी संहिता में प्राप्त होता है। पं. आशाधर जी से पूर्व किसी श्रावकाचर में यह वर्णन नहीं है। यह श्रावक भोजन में यह बनाना और यह नहीं बनाना, ऐसा आदेश नहीं देता। मुनि की तरह उसे प्रासुक, शुद्ध अन्न देना चाहिए। घर में रहे, सिर के बाल आदि कटवाये न कटवाये, उसकी इच्छा है। अब तक न तो वह नग्न ही रहता है और न किसी प्रकार का वेष ही रखता है। चोटी, जनेऊ आदि रखे या न रखे उसकी इच्छा है। जिनालय में या सावद्य रहित घर में रहे। बुलाने पर अपने सम्बन्धी के घर या अन्य के घर भोजन करे।[33]

यह अनुमति विरक्त श्रावक चैत्यालयादि में रहता हुआ स्वाध्याय करते हुए अपना समय व्यतीत करता है तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का पालन करने के लिए उद्यत होता है। गुरुजन बन्धु-बान्धव और पुत्रादि से यथायोग्य पूछकर गृहत्याग कर देता है।

11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

उन-उन व्रतरूपी अस्त्रों के द्वारा पूरी तरह से छिन्न भिन्न किये जाने पर भी जिसका मोह रूपी महान् वीर किंचित् जीवित है, वह उत्कृष्ट अंतिम श्रावक अपने उद्देश्य से बने भोजन को भी छोड़ देता है।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी का मोह अभी किञ्चित् शेष है उसी का यह फल है कि वह पूर्ण जिनरूप मुनि मुद्रा धारण करने में असमर्थ है। अपने उद्देश्य से बनाए गए भोजन को भी स्वीकार नहीं करता। भोजन को भी स्वीकार न करने से यह अभिप्राय है कि नवकोटि से विशुद्ध भोजन को ही स्वीकार करता है। तथा भोजन की तरह ही अपने उद्देश्य से बने उपधि, शय्या, आसन आदि को भी स्वीकार नहीं करता।[34]

पं. आशाधर जी ने इस प्रतिमा के दो भेद किये हैं जिसका नामकरण लाटी संहिता में क्षुल्लक एवं ऐलक किया गया है।[35]

इनका स्वरूप क्रमशः उद्धृत किया जाता है-

1. क्षुल्लक- प्रथम उत्कृष्ट श्रावक एक सफेद कोपीन, लंगोटी, और उत्तरीय वस्त्र धारण करता है। वह अपने दाढ़ी, मूंछ और सिर के बालों को कैंची या छुरे से कटवा सकता है। उठते-बैठते हुए जन्तुओं को बाधा न पहुँचाने वाले कोमल वस्त्र वगैरह से (मयूर पिछी का निर्देश नहीं हैं) स्थान आदि को साफ करे और दो अष्टमी दो चतुर्दशी इन चारों पर्वों में चारों प्रकार के आहार के त्याग पूर्वक उपवास अवश्य करता है।[36]

प. आशाधर जी ने इसके भी दो भेद कर दिये हैं, एक अनेक घर से भिक्षा लेने का नियम वाला और दूसरा एक घर से ही भिक्षा लेने का नियमवाला। एक घर से ही भिक्षा लेने वाला उत्कृष्ट श्रावक मुनियों के पश्चात् दाता के घर में जाकर भोजन करता है। यदि भोजन न मिले तो नियम से उपवास करता है। परन्तु अनेक घर से भिक्षा लेने वाला श्रावक हाथ में पात्र लेकर, श्रावक के घर जाकर, धर्मलाभ, कहकर भिक्षा की प्रार्थना करता है अथवा मौन पूर्वक अपना शरीर श्रावक को दिखाकर, भिक्षा के मिलने या न मिलने में समभाव रखते हुए आगे बढ़ जाता है। पर्याप्त भोजन मिल जाने पर प्रासुक जल प्राप्त कर शोधन करके भोजन करता है। प्राप्त भोजन का मुनि आदि को दान भी कर सकता है।[37]

2. ऐलक - दूसरे उत्कृष्ट श्रावक की क्रिया पहले के समान है। विशेष यह है कि यह आर्य कहलाता है, दाढी, मूंछ और सिर के बालों को हाथ से उखाड़ता है, केवल लंगोटी पहनता है और मुनि की तरह पीछी रखता है। अन्य गृहस्थ के द्वारा अपने हस्तपुट में ही दिये गये आहार को सम्यक्रूप से शोधन कर ग्रहण करता है। इन श्रावकों को आपस में, इच्छाकार, कहते हुए विनय व्यवहार करना चाहिए। ये श्रावक वीर चर्या, दिन प्रतिमा योग, आतापन आदि त्रिकाल योग, सूत्र रूप परमागम और प्रायश्चित शास्त्र के अध्ययन के अधिकारी नहीं है।

संसार परिभ्रमण का नाश करने के लिए दान, शील, उपवास और जिनादि पूजन के भेद से भी चार प्रकार का अपना आचार, श्रावकों को अपनी-अपनी प्रतिमा सम्बन्धी आचरण के अनुसार करना चाहिए। तथा गुरु अर्थात् पञ्च परमेष्ठी, दीक्षा गुरु और प्रमुख धार्मिक पुरुषों से लिए गये व्रत को प्राणान्त होने पर भी भंग नहीं करना चाहिए। एवं निरंतर भावना करना चाहिए कि मैं शास्त्रोक्त विधि के अनुसार मरण के समय होने वाली सल्लेखना को अर्थात् समाधि पूर्वक मरण अवश्य करूंगा।

मुनि बनने की इच्छा होते हुए भी स्वयं को शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, एवं आध्यात्मिक रूप से परिपक्व करने मे ग्यारह प्रतिमाओं का यह वैज्ञानिक क्रम अधिकाधिक सहायक सिद्ध होता है। एक सामान्य पुरुष भी क्रमशः इन सोपानों को प्राप्त करता हुआ दृढ़ चारित्र वाला, सम्यक्त्वी और पर्याप्त ज्ञान का अर्जन कर मोक्षमार्ग का राही हो सकता है। वर्तमान युग इस प्रकार प्रतिमाओं का पालन करते हुए गृहस्थ धर्म का निर्वाह कर आत्म कल्याण करने मे सक्षम है।

सन्दर्भ सूची

1. ध. सा. 1/7
2. चा. पा. गा. 20
3. त. सू. 9.25
4. श्रा.सं.अं.पृ.361-362
5. का.अनु.गा. 305-306
6. ध. सा. 1/17
7. ध. सा. पृ. 33
8. ध. सा. 37-8
9. ध. सा. पृ. 125-126
10. ध. सा. 4/1
11. ध. सा. 5/53
12. ध. सा. 7/1
13. र. श्र. श्लो. 139
14. ध. सा. 7/3
15. ध. सा. 7/4
16. का.अनु गा. 373-376
17. ध. सा. 7/7
18. ध. सा. पृ. 283
19. का. अनु. गा. 379
20. जि. स. पृ. 179
21. ध. सा. पृ.284
22. ध. सा.7/12
23. वसु. श्रा. गा. 296
24. ध. सा. पृ. 286
25. ध. सा. 7/16
26. आत्मा
27. प्र.र.मा. श्लोक 8
28. ध. सा. 7/21
29. ध. सा. 7/23
30. चा. सा. पृ. 19
31. ध. सा. पृ. 291-293
32. ध. सा. 7/30
33. लाटी सं. 7/47-50
34. ध. सा. पृ. 299
35. लाटी सं. 7/55
36. ध. सा. 7/38-39
37. ध. सा. पृ. 30
38. ध. सा. 7/48-49

श्री दि. जैन श्रमण संस्कृति
संस्थान सांगानेर, जयपुर

भगवान महावीर का देशना स्थल एवं गणधर

– पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन रजवॉस

कर्मों पर विजय प्राप्त करने के लिये क्रमशः एक एक सोपान चढ़ते हुये, भगवान महावीर ने बारहवें गुणस्थान में चौदह प्रकृतियों का नाश कर, अन्तःकरण में केवलज्ञान रूपी सूर्य के आलोक को प्राप्त किया। कैवल्य प्राप्त करते ही भगवान सर्वज्ञ हो गये, जगत् पूज्य हो गई वह तिथि और वह स्थान, वह दिन और वह जृम्भिका ग्राम, ऋजुकूला नदी का किनारा और वह शालवृक्ष। इन्हें सब वन्दन करते हैं, इनके विषय में पूर्वाचार्यों के भी मत दृष्टव्य हैं :-

वइसाह सुक्क दसमी हत्ते रिक्खम्मिवीरणाहस्स।
रिजुकूलणदी तीरे अवरण्हे केवलं णाणं।।4/709।। तिलोयपण्णत्ति

अर्थात्- वीर नाथ जिनेन्द्र को वैसाख शुक्ल दशमी के अपराह्न में हस्त नक्षत्र के रहते ऋजुकूला नदी के किनारे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। ऋजुकूला नदी के साथ जृम्भिका ग्राम का उल्लेख प्राप्त होता है। जिससे केवलज्ञान उत्पत्ति के स्थान का निर्णय शीघ्रता से हो जाता है।

विहरन्नथ नाथोऽसौ गुण ग्राम परिग्रहः ऋजुकूलापगाहे जृम्भिकग्राममिथिवान।।
तत्रातापन योगस्थ सालाभ्याशशिलातले वैसाख शुक्ल पक्षस्य दशम्यां षष्ठमाश्रितः।। हरिवंश पुराण सर्ग 2, 57, 58

अर्थात्- गुण समूह रूपी परिग्रह को धारण करने वाले श्री वर्धमान स्वामी विहार करते हुये ऋजुकूला नदी के तट पर स्थित जृम्भिका ग्राम पहुँचे। वहाँ वैसाख शुक्ला दशमी के दिन दो उपवास का नियम लेकर वे शालवृक्ष के नीचे शिला तल पर आरूढ़ हो गये। केवलज्ञान प्राप्ति के स्थानादि के उल्लेख के साथ अपराह्न का उल्लेख है, किन्तु अपराह्न काल में भी कितना समय था इसे भी निर्देशित किया है।

उजुकूलणदी तीरे जंभिय गामे बहिं सिला वट्टे।
छट्ठेणादा वेंतो अवरण्हे पाय छायाए।।
वह साह जोण्ण पक्खे दसमीह खवगसेडिमा रूढो।
हंतूण घाइकम्मं केवल माणं समा वण्णो।।

जय धवला पुस्तक 1 पृष्ठ 72

अर्थात्- जृम्भिका ग्राम के बाहर ऋजुकूला नदी के किनारे शिलापट्ट के ऊपर षष्टोपवास के साथ आतापन योग करते हुए महावीर भगवान ने अपराह्न काल में पाद प्रमाण छाया के रहते हुए वैशाख शुक्ल दशमी के दिन क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया और चार घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान प्राप्त होते ही महावीर स्वामी का शरीर पॉच हजार धनुष ऊपर उठ गया।

सौधर्म इन्द्र का आसन कंपित हो गया, उसने केवलज्ञान उत्पत्ति जानकर परोक्ष नमन किया। ज्ञानकल्याणक मनाया गया देव और मनुष्यों ने केवलज्ञानी भगवान महावीर की पूजा की और सौधर्म इन्द्र ने कुबेर को आदेश दिया कि विशाल सभा मण्डप समवशरण की रचना करो। इन्द्र की भावना थी कि संसार के समस्त दुःखी प्राणी सुख का मार्ग प्राप्त करें। इस उद्देश्य से ऋजुकूला नदी के किनारे अविलम्ब समवशरण की रचना की गई कुबेर हर्षित था, उसे अपना वैभव अकिंचन लग रहा था। उपदेश ग्रहण करने का उत्साह लेकर समवशरण में देव, मनुष्य एवं तिर्यंच पहुँच रहे थे। विशाल जन समूह एकत्र हो रहा था। सौधर्म भी अपने पूरे परिकर के साथ पहुँच गया था। नियमानुसार सभी अपने अपने कक्ष/सभा में यथास्थान बैठ गये। केवलज्ञान वैसाख शुक्ल दशमी को हुआ था और आषाढ़ मास व्यतीत होने जा रहा था। किन्तु अभी तक महावीर स्वामी की देशना प्रारंभ नहीं हुई थी। सभी देवगण, विद्वत् जन एवं अन्य विचार शील व्यक्ति देशना अवरोध के संबंध में विचार कर रहे थे। ये मूक केवली नहीं हैं, इनकी देशना होगी लेकिन कब होगी, समय निकलता जाता है। कई लोग कह रहे थे अभी काल लब्धि नहीं आयी है। इन दिनों में कई लोग आये कई लोग लौट गये और कई

लोग देशना की प्रतीक्षा में उपस्थित रहे। श्रोताओं के मन में निराशा आने लगी, फिर भी देशना मिलेगी की हट श्रद्धा ढाढस बंधाये थी, देशना क्यों नहीं हो रही है, इसका समाधान किसी के पास नहीं था।

पैंसठ दिन तक समवशरण भी एक स्थान पर नहीं रह सका और तीर्थंकर महावीर का समवशरण राजगृह के निकट विपुलाचल पर आ गया। असंख्य श्रोता यहाँ उपस्थित थे, पर देशनावरोध पूर्ववत् था। कोई कहता था सौधर्म इन्द्र ने अभी तक गणधर उपस्थित क्यों नहीं किया। काललब्धि के बिना इन्द्र भी गणधर उपस्थित करने में असमर्थ था। गणधर को उनके पादमूल में दीक्षित होना चाहिए तभी दिव्यध्वनि खिरती है। अब सौधर्म इन्द्र को चिन्ता हुई, और अवधिज्ञान से ज्ञात किया कि सम्यक् और यथार्थ ज्ञानी गणधर के अभाव में दिव्य देशना रुकी हुई है। अन्तः इन्द्र ने गणधर को खोजना प्रारंभ किया।

मगध में सोमिल नाम का एक विद्वान ब्राह्मण रहता था। वह ब्राह्मण वर्ण का नेतृत्व करने वाला अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति था, उसने मध्यमापावा में एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया। उसमें पूर्वी भागों के बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों को उनके शिष्य परिवार सहित आमंत्रित किया था। इस यज्ञ का नेतृत्व मगध के प्रसिद्ध विद्वान एवं प्रकाण्ड तर्क शास्त्री इन्द्रभूति गौतम के हाथ में था। इन्द्रभूति गौतम का जन्म मगध जनपद के गोब्बर ग्राम में हुआ था, इनकी माता का नाम पृथ्वी और पिता का नाम वसुभूति था। इनका गोत्र गौतम था। इन्द्रभूति की विद्वता की धाक दूर-दूर तक थी। इसलिये यज्ञ के नेतृत्व को इन्द्रभूति को चुना गया। यज्ञ मण्डप में स्थित विद्वानों ने आकाश मार्ग से जाते हुये देवों को देखकर विचार किया कि ये देव यज्ञ में सम्मिलित होने को आ रहे हैं। किन्तु जब वे आगे निकल गये, तो उन्हें लगा कि ये किसी के माया जाल में फँस गये हैं। इन्द्रभूति को जब पता चला कि ये सभी देव महावीर के समवशरण में जा रहे हैं, तो इन्द्रभूति का मन, अहंकार पर चोट लगने से उदास हो गया। उसी समय सौधर्म इन्द्र विद्यार्थी का रूप बनाकर इन्द्रभूति के समक्ष पहुँचा और कहने लगा।

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वयापच।
अट्ठयपवयणमादा सहेउओ बंध मोक्खो य।। 39।।

धवला पु. 9 पृ. 129

अर्थात्- पॉच अस्तिकाय, छहजीव निकाय, पॉच महाव्रत, आठ प्रवचन मात्रा अर्थात् पॉच समिति, तीन गुप्ति तथा सहेतुक बंध और मोक्ष आदि क्या हैं। जब वे इसे समझ न सके तब असमंजस में पढ़कर कहने लगे, चलो तुम्हारे गुरु के समक्ष ही इस गाथा का अर्थ बतलाऊँगा। इन्द्र यह सुनकर प्रसन्न हो गया।

इन्द्रभूति गौतम पॉच सौ शिष्यों के साथ भगवान महावीर के समवशरण में गये। मानस्तम्भ को देखते ही मान गल गया, मानस्तम्भ प्रकाश स्तम्भ बन गया, मान रहित भावों की विशुद्धि सहित महावीर भगवान के दर्शन कर तीन प्रदक्षिणा लगा कर पंच मुष्टियों से अर्थात् पाँच अंगों से भूमि का स्पर्श कर वन्दना करके संयम को प्राप्त हुये। इन्द्रभूति गौतम ने 50 वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की और गणधरों में प्रधान बन गये। गणधर की उपस्थिति होने से दिव्य देशना प्रारंभ हो गई। इन्द्रभूति गौतम की दीक्षा का समाचार मगध में विद्युत की तरह फैल गया। अग्निभूति आदि विद्वानों को महान आश्चर्य हुआ, वे इन्द्रभूति का समाचार जानने के लिये विपुलाचल पर पधारे। इन्द्रभूति के भाई अग्नि भूति और वायुभूति अपने पॉच-पॉच सौ शिष्यों के साथ मानस्तम्भ को देखकर मान गलित होने से अग्निभूति ने 46 वर्ष और वायुभूति ने 42 वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहणकर ली और गणधर बन गये।

शुचिदत्त ने 50 वर्ष की आयु में पॉच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ली और चौथे गणधर बने। आप कोल्लाग सन्निवेश के निवासी थे। माता का नाम बारूणी और पिता का धन मित्र था। सुधर्मा नाम के पॉचवें गणधर कोल्लाग सन्निवेश निवासी अग्नि वैश्यान गौत्र के ब्राह्मण थे इनकी माता भरिग्ला और पिता धम्मिल्ल थे। पॉच सौ शिष्यों के साथ 50 वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की। छठवें गणधर माण्डिक सांख्य दर्शन के समर्थक थे। ये मौर्य सन्निवेश के निवासी वशिष्ट गौत्री ब्राह्मण

थे। माता का नाम विजया देवी और पिता का नाम धनदेव था। तीन सौ पचास शिष्यों के साथ 50 वर्ष की आयु मे दीक्षा ग्रहण की थी। सप्तम गणधर मौर्यपुत्र काश्यप गौत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजया देवी था, पैसठ वर्ष की आयु में तीन सौ पचास शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की। अष्टम गणधर अकम्पिक मिथला के निवासी गौतम गौत्रीय ब्राह्मण थे। माता का नाम जयन्ति और पिता का नाम देव था। अड़तालीस वर्ष की आयु में तीन सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की। नवम गणधर अचल कौशल निवासी हारीत गौत्रीय ब्राह्मण थे, आपकी माता नंदा और पिता वसु थे। आपने तीन सौ शिष्यों के साथ छियालीस वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की। दशम गणधर मेदार्य वत्सदेश के निवासी कौण्डीय गौत्रीय ब्राह्मण थे। माता वरुणि और पिता दत्त थे, तीन सौ शिष्यों के साथ 36 वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की। एकादश वें गणधर प्रभास राजगृह के निवासी थे। आपकी माता अति भद्रा और पिता बल थे, तीन सौ शिष्यों के साथ 46 वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी।

भगवान महावीर के सभी ग्यारह गणधर ब्राह्मण विद्वान थे। इनके दीक्षा लेने से जो यज्ञों में हिंसा होती थी, वह वन्द हो गई थी। इन्द्रभूति की दीक्षा के उपरान्त राजगृह के विपुलाचल पर प्रथम देशना का उद्भव श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को हुआ।

एत्थावसप्पिणीए चउत्थ कालस्य चरिम भागम्मि।
तेत्तीस वास अडमास पण्णरस दिवस सेसम्मि।।68।।
वासस्स पढ़म मसि सावण णामम्मि बहुल पडिवाय।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ति धम्म तित्थस्स।।69।।

तिलोयपण्णति भाग-1

अर्थात्- अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अंतिम भाग मे तेंतीस वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के श्रावण नामक प्रथम माह में कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र के उदय रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई। वीर शासन का प्रारम्भ हुआ। देव विद्याधर और मनुष्य तिर्यञ्चों के मन को प्रसन्न करने वाला वह विपुलाचल

प्रथमदेशना स्थल होने के कारण सभी से वन्दनीय है। विपुलाचल राजगृह नगर की नैऋत्य दिशा में है। पूर्व में चतुष्कोण ऋषि शैल दक्षिण में वैभार पर्वत है।

वैभार और विपुलाचल पर्वत त्रिकोण आकृति के हैं। पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा में फैला हुआ धनुष के आकार का छिन्न नामक पर्वत है, और ईशान में पाण्डु पर्वत है। इस प्रकार पाँच पर्वत से युक्त होने के कारण यह राजगृह नगर पंचशैलपुर कहलाता है।

षट्खण्डागम की धवला टीका में पंच पहाड़ियों के ऋृषिगिरि वैभारगिरि, विपुलाचल, चन्द्राचल और पाण्डुगिरि नाम उल्लिखित है। हरिवंश पुराण में पहला पर्वत ऋषिगिरि है। जो राजगृह की पूर्व दिशा में है। दक्षिण में वैभार गिरि त्रिकोण है। नैऋत्य में त्रिकोणाकार विपुलाचल है, इसी पर्वत पर समवशरण आया था इसी पर एकादश गणधरों ने दीक्षा ली थी। पश्चिम वायव्य और उत्तर को घेरे हुये चौथा वहालक, नामक पर्वत है, यह धुनषाकार है।

ईशान दिशा में पाँचवां पाण्डुक नामक गोलाकार पर्वत है। इन पर्वतों के वनों में वासुपूज्य स्वामी को छोड़कर शेष समस्त तीर्थकरों के समवशरण हुये। ने वन सिद्धक्षेत्र भी है और कर्म निर्जरा में कारण भी है।

वर्तमान पहला पर्वत विपुलाचल है दूसरा रत्नगिरि तीसरा उदयगिरि चौथा स्वर्णगिरि और पॉचवां वैभारगिरि है।

पुराणों में राजगृह के पंचशैल पुर, गिरिव्रज, कुशाग्रपुर, क्षिति प्रतिष्ट आदि नाम मिलते है, यहाँ मुनि सुब्रत नाथ के चार कल्याणक सम्पन्न हुये थे।

भगवान महावीर को ऋजुकूला तट पर केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और प्रथम समवशरण भी यहीं लगा, किन्तु गणधर के अभाव में (जो उनके पाद मूल में ही दीक्षित हो) दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। भगवान महावीर विहार करते हुये राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर पधारे। समवशरण की रचना हुई। सौधर्मइन्द्र गणधर को ले आये तब प्रथम देशना राजगृह के विपुलाचल पर हुई। सभी को ज्ञानामृत पान करने का सौभाग्य मिला।

— रजवांस जिला सागर म.प्र.

आगमिक तथ्यों के आलोक में

जलाभिषेक बनाम पंचामृत अभिषेक

– डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

तीर्थंकर भगवन्तों के पाँच कल्याणक मनाए जाते हैं। जन्मकल्याणक के समय इन्द्राणी प्रसूति गृह में जाकर मायामयी बालक रखकर तीर्थंकर-बालक सौधर्म इन्द्र को उल्लास पूर्वक लाकर देती है। सौधर्म इन्द्र ऐरावत हाथी पर बैठा कर बालक को सुमेरू पर्वत पर ले जाता है। वहाँ पांडुक शिला पर विराजमान कर 1008 कलशों से सौधर्म ईशानइन्द्र और देवतागण क्षीरसागर के पावन जल से बालक का जन्माभिषेक करते हैं। तप कल्याणक के समय देवों द्वारा जल से महाभिषेक के बाद की सर्व क्रियाओं में अभिषेक होने/करने का कोई विधान नहीं है। समवशरण में भी अभिषेक नहीं किया जाता। मुनिराज अ-स्नान व्रतधारी होते हैं। निरतिचार 28 मूलगुण पालते हैं। ज्ञान-ध्यान तप में लीन रहते हैं।

श्रावक के आठ मूलगुण मुख्य हैं। अर्थात् मद्य, मांस, मधु और पांच उदम्बर फलों का त्याग होता है। इसके बिना श्रावक की भूमिका ही नहीं होती।

श्रावक के कुछ आवश्यक कर्तव्य भी हैं। रयणसार के अनुसार चार प्रकार का दान और देव शास्त्र गुरु की पूजा करना श्रावक का मुख्य कर्तव्य है (गाथा 11)। कषाय पाहुड़ में दान, पूजा, शील और उपवास को श्रावक का कर्तव्य बताया है। (82/100/2)। आचार्य पद्मनन्दि ने पंचविंशतिका में जिन पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम, और तप इन छह कार्यों को गृहस्थों के आवश्यक कार्य माने हैं, जिन पूजा का बहुत महत्व है। यह अष्ट द्रव्य से की जाती है। जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है (मू. आ. 506)। जिन बिम्ब के दर्शन से निधत्त और

निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कालुष्य का क्षय देखा जाता है। (धवला 6/1-9-9, 22/427/9) योगेन्दु देव के अनुसार तीर्थों में देवालयों में देव नहीं हैं, जिनदेव तो देह देवालय में विराजमान हैं (योगसार 42/1)।

जिनेन्द्र देव की पूजा के पूर्व प्रतिमाओं के प्रक्षाल एवं अभिषेक करने की परम्परा है। अभिषेक प्रासुक जल से प्रायः किया जाता है। कहीं कहीं परम्परानुसार जल, इक्षु रस, घी, दुग्ध और दही के द्वारा भी किया जाता है, इसे पंचामृत अभिषेक कहते हैं। प्रस्तुत आलेख में जलाभिषेक एवं पंचामृत अभिषेक की परम्परा और उसके औचित्य पर आगम के आलोक में, तथ्यों का प्रकाशन हैं जिससे कि विज्ञ-शोधार्थी मनीषि सम्यक निष्कर्ष ग्रहण कर सकें।

राष्ट्र संत पू. आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज का आलेख 'जिनार्चना के अंगः जलाभिषेक और अष्ट द्रव्य' सामने है। यह आलेख जैन बोधक, समन्वय वाणी (1-15 दिस., 06) एवं वीर, मई 07 में प्रकाशित हुआ है। आचार्य श्री ने इस आलेख में निम्न दो निष्कर्ष ग्रहण किये हैं।-

1. पंचामृत अभिषेक वैदिक संस्कृति में:

डॉ. वासुदेव उपाध्याय आदि इतिहास-संस्कृति के ज्ञाता विद्वानों के विचार में वैदिक परम्परा में देवताओं को पंचामृत स्नान (अर्थात् जल, इक्षुरस, घी, दही, दूध के मिश्रण से स्नान) कराने की प्रथा का आगमन संभवतः ई. छठी शती या इसके बाद हुआ ऐसा भी विद्वानों का विचार है। इस सम्बंध में अधिकाधिक अन्वेषण की आवश्यकता है।

2. जलाभिषेक की प्राचीनता

जिन पूजा मे मूर्ति का जलाभिषेक किए जाने की परम्परा अति प्राचीन मानी जाती है। अभी कुछ पुरातात्विक अवशेष भी मिले हैं, जो उक्त

तथ्य की पुष्टि करते है। ऋषभ पुत्र बाहुबली की प्राचीन राजधानी पोदनपुर (तक्षशिला) पेशावर (पाकिस्तान) मे हैं। वहां एक जिन मूति की प्रतिच्छवि में श्रावकों को जिन मूर्ति पर जलाभिषेक करते हुए देखा जा सकता है। श्रावकों ने बिना सिली हुई धोती पहिन रखी है और अग पर अन्य कोई वस्त्र नहीं है। यह मूर्नि दूसरी शती पूर्व की है और इसकी प्राचीनता के आधार पर भारत या बाहर देशों मे जिन पूजा के अंतर्गत किये जाने वाले जलाभिषेक की प्राचीनता सिद्ध की जा सकती है।

उक्त आलेख को जब से पढ़ा मन मे यह भावना रही कि पचामृत अभिषेक की आगमिक परम्परा की जानकारी प्राप्त की जाये। पुण्य योग से मुनि श्री भूतवली सागर जी द्वारा संकलित सम्यक् श्रामण्य भावना मिली। इस कृति के पृष्ठ 187-202 में श्रावकाचार संग्रह (तीन भाग) के आधार पर पंचामृत या जलाभिषेक का आगमिक विवरण एवं समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। अन्वेषण कर्त्ताओं को यह जानकारी उपयोगी सिद्ध होगी। अतः सहज भाव से सम्यक् निर्णय हेतु प्रस्तुत है। विद्वज्जन निष्पक्ष भाव से विचार करें।

1. ईसा की दूसरी शती मे आचार्य उमास्वामी के शिष्य आचार्य समन्तभद्र हुए। आप महाकवि एव महावादि थे। आपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की रचना की। आपने शिक्षाव्रत अधिकार मे वेयावृत्य के अतर्गत श्लोक 119 में जिनेन्द्र पूजन का उपदेश दिया। इसमें अभिषेक का वर्णन नहीं किया।

2. विक्रम की पांचवीं शती मे श्वेताम्बराचार्य विमलसूरी हुए। आपने प्राकृत भाषा में 'पदम-चरियं' ग्रन्थ की रचना की। इसके उद्देश्य 32 में आपने गाथा 178 से 182 में पचामृत अभिषेक द्वारा स्वर्ग में उत्तम देव और विमान प्राप्त करने की लौकिक भावना भायी है।

3. ईसा की सातवीं शती में रविषेण (ई. 643-683) दिगम्बराचार्य हुए। आपने विमलसूरि के पउम-चरिय का संस्कृत रूपांतरण जैसा करते हुए पद्मपुराण की रचना की। दोनों की उद्देश्य-पर्व सख्या समान है।

रविषेणाचार्य ने पर्व 14 में वीतरागता की प्राप्ति हेतु श्रावक के बारह व्रतों का स्वरूप और अन्य आवश्यक कर्तव्यों को बताते हुए पूजन और अभिषेक का कोई वर्णन नहीं किया। जबकि आपने सर्ग 32 में राम-लक्ष्मण के वन गमन कर जाने से शोक-संतृप्त भरत को संबोधित करते हुए आचार्य द्युति के माध्यम से गृहस्थ धर्म के रूप में सांसारिक अभिवृद्धि एवं स्वर्ग सुख की प्राप्ति हेतु श्लोक क्र. 165-169 में जिन पूजन और पंचामृत अभिषेक का विधान प्रासंगिक रूप से कराया है। ऐसा करते समय आचार्य रविषेण ने विमल सूरि का पूर्णतः अनुकरण किया है। दोनों के कथनों का मिलान करने पर यह स्थिति स्पष्ट होती है। जो निम्न उद्धरण से समझी जा सकती है!

पदम चरियं (उद्देश्य 32)

खारेण जोऽभिसेयं कुण्इ जिणिंदढस्य भविराण्ण।
सो खीर विमलधवले रमइ विमाणे सुचिरकाले।।179।।

पद्मपुराण (पर्व 32):

अभिषेक जिनेन्द्राणां विधाय क्षीर धारया।
विमाने क्षीर धवले जायते परम द्युतिः।।166।।

अर्थ- जो दूध धारा से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करता है वह दूध के समान धवल विमान में उत्तम कान्ति का धारक होता है। (पद्म पुराण-भा. दो. पृ. 97) इसी प्रकार दही से दही समान फर्श वाले स्वर्ग में उत्तम देव, घी से कांति-द्युति युक्त विमान का स्वामी देव आदि होने का प्रलोभन दर्शाया है। बिना गंगा-स्नान किये स्वर्ग-पथ बता दिया।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लौकिक-स्वर्ग सुख की कामना से पचामृत अभिषेक का प्रारम्भ प्रथमतः श्वेताम्बर परम्परा में हुआ। यह वैदिकी प्रभाव के साथ उनकी दार्शनिक मान्यता/अभिप्राय से मेल खाता प्रतीत होता है। साम्प्रदायिक सद्भाव के परिप्रेक्ष्य में दिगम्बराचार्य रविषेण ने उसका अनुकरण किया। उनकी दृष्टि में इसका उद्देश्य वीतरागता की प्राप्ति न होकर स्वर्ग सुख की प्राप्ति था। इस प्रकार

भावनात्मक दृष्टि से पंचामृत अभिषेक करने का अभिप्राय दिगम्बर परम्परा के अनुरूप नहीं है।

रविषेण ने सर्ग 27 में जनक द्वारा म्मलेच्छों के पराजय हेतु राजा दशरथ के श्रावकों की धार्मिकता का वर्णन करते हुए, उन्हे पुराने धान आदि से पाच प्रकार के यज्ञ करने वाला दर्शाया है। यह विन्दु भी विचारणीय है (श्लोक 20)। दोनों ग्रन्थों की सूक्ष्म तुलना करने पर अन्य आगमिक विसंगतियां ज्ञात हो सकती हैं।

4. महापुराण पुराण परम्परा का मुकुटमणि रूप है। इसकी रचना महाकवि आचार्य जिनसेन महाराज (ई.800-843) ने नौवीं शती में की थी। दक्षिण भारत उस समय सांस्कृतिक संघर्ष के दौर में था। बौद्ध, शैव और वैष्णव धर्मों के साथ अंतर-बाह्य संघर्ष चल रहा था। धर्म-विद्वेषी राजाओं के सर्वनाशी प्रहार हो जाते थे तो कभी राजाश्रय का अपरिमित लाभ भी मिल जाता था। फिर भी सास्कृतिक/दार्शनिक संघर्ष तो निरंतर बना ही रहा। ऐसे समय में महापुराण की रचना हुई। न्यायाचार्य पं. महेन्द्र कुमार जी के मतानुसार 'आ. जिनसेन ने भं. महावीर की उदारतम संस्कृति को न भूलते हुए ब्राह्मण-क्रिया काड के जैनीकरण का सामायिक प्रयास किया था।' महापुराण में जेन दर्शन, धर्म और संस्कृति के दार्शनिक एवं व्यावहारिक पक्ष सविस्तार दर्शाया है। गर्भान्वय की 53 क्रियाएँ, दीक्षान्वय की 48 क्रियाएँ (अवतार आदि आठ क्रियाओं के साथ गर्भान्वय की 14 वीं उपनीति से अग्रनिवृत्ति तक की तिरपनवीं क्रिया तक 8 + 40 = 48) तथा कर्त्रान्वय की 7 क्रियाओं का भी वर्णन है। पूजा के भेद और म्वरूप को भी दर्शाया है। पर्व 13 में जिन बालक ऋषभदेव के जन्माभिषेक तथा पर्व 17 में निष्क्रमणाभिषेक का वर्णन है, जो क्षीरसागर के निर्मल जल से सम्पन्न हुआ था। किन्तु महापुराणकार आचार्य जिनसेन ने चारों प्रकार की पूजाओं के पूर्व या पश्चात पंचामृत अभिषेक का वर्णन नहीं किया है। उक्त गर्भाधान क्रियाओं में भी पंचामृत अभिषेक की कोई मान्यता या निर्देश नहीं किया है। उपासकाचार सूत्रों का सदर्भ दिया है। यज्ञोपवीत

के पक्ष में आचार्य जिनसेन को प्रमाण स्वरूप मानने वाले विद्वान मनीषियों को महापुराण में पंचामृत अभिषेक की अविद्यमानता का निष्कर्ष भी उदारता पूर्वक ग्रहण करना चाहिये। स्पष्ट है कि ईसा की 1-10 वीं शताब्दी तक जलाभिषेक की परम्परा रही होगी।

5. स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की धर्मानुप्रेक्षा में गाथा 373 से 376 तक प्रोषध प्रतिमा का स्वरूप बताया है। आपने प्रोषध की समाप्ति पर सामायिक वन्दना, पूजन-विधान आदि कर तीन प्रकार के पात्रों को आहार दान देकर भोजन करने का उल्लेख किया है। अभिषेक आदि का कोई उल्लेख नहीं किया। स्वामी कार्तिकेय का समय ई. की दशमी शताब्दी है।

6. आचार्य श्री अमृतचन्द्र (ई. 962-1015) ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय आचार ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में जलाभिषेक या पंचामृत अभिषेक का कोई उल्लेख नही है। प्रभावना अंग में 'दानतपोजिनपूजा' (श्लोक नं. 30) वाक्य में केवल जिन पूजा का उल्लेख है। प्रोषधोपवास के दिन प्रासुक द्रव्य से जिन पूजा का विधान किया है (श्लोक 15)।

7. सोमदेव ने यशस्तिलकगत उपासकाध्ययन में पूजन और अभिषेक का विस्तृत वर्णन किया है। आपका समय ई. 943-968 है। आपने सिंहासन को सुमेरू पर्वत मान कर जलाभिषेक कराया, पश्चात दाख, खजूर, नारियल, आंवला, केला, आम तथा सुपारी के रसो से अभिषेक कराया है, तत्पश्चात घी, दूध, दही, इलायची और लौंग के चूर्ण से जिन बिम्ब की उपासना का विधान किया है। (श्लोक-503, 507 से 511)। जिनशासन में सोमदेव शिथिलाचारी साधू माने जाते हैं। उन्होंने सर्वप्रथम वैदिक धर्म में प्रचलित पूजन-अभिषेक का अनुकरण किया है। यह वह समय था जब भट्टारकीय धार्मिक क्रियाकांड तंत्र-मंत्र एवं शिथिलाचार ऐहिक लाभ हेतु प्रारम्भ हो गया था।

8. चामुण्डराय (11वीं शती. पूर्वा.) ने चारित्रसार में श्रावकों के व्रतो एव छह आर्य कर्मों के वर्णन मे पूजन के महापुराणों की चारों प्रकारों की स्वरूप स्नपन अभिषेक करने का निर्देश मात्र किया है।

9. आचार्य अमितगति (ई. 993-1021) ने अपने श्रावकाचार में द्रव्य पूजा एवं भाव पूजा का स्वरूप और जिन पूजा का महात्म्य/फल का वर्णन किया है। जिन स्नान एवं जिनोत्सव करने वाले को लक्ष्मी मिलती है (श्लोक 40)। अभिषेक या पंचामृत अभिषेक का कोई निर्देश नहीं किया।

10. आचार्य वसुनंदि (ई. 1043-1053) ने अपने श्रावकाचार में प्रोषध प्रतिमा के वर्णन में द्रव्य और भाव पूजन (गाथा 207) तथा श्रावक के कर्तव्य बता कर पूजन का विस्तृत वर्णन किया। स्थापना पूजन में नवीन प्रतिमा का निर्माण एवं शास्त्रीय विधि से प्रतिष्ठा स्नपना करने का विधान किया है (गा. 424)। तीर्थकरों के गर्भ-जन्मादि कल्याणकों की 'काल पूजन' के दिन इक्षुरस, घी, दही, गंध, और जल से भरे कलशों से जिनाभिषेक का वर्णन किया है (गा. 453-454)।

11. पंडित प्रवर आशाधर जी (ई. 1173-1243) ने सागार धर्मामृत के दूसरे अध्याय में पूजा के नित्यमह, सर्वतोभद्र, कल्पद्रुम और अष्टाह्निक भेद बताकर स्तवन आदि का उपदेश दिया। इस स्थल पर पंचामृत अभिषेक का कोई उल्लेख नहीं है (2ए 24-31) इससे ध्वनित होता है कि उस समय पंचामृत अभिषेक सार्वजनिक जिन मंदिर में प्रचलित नहीं था। प. आशाधर जी ने अध्याय 6 में मध्याह्न (दोपहर) की पूजा में 'प्रतिष्ठासारोद्धार' प्रतिष्ठा पाठ का श्लोक उदधृत किया जिसमे अभिषेक की प्रतिज्ञा सहित पंचामृत अभिषेक की विधि और अष्ट द्रव्य से पूजन का विधान किया है (सा. ध. 6-22)। प्रचलित परम्परानुसार यह काल-पूजा का अंग है।

12. आचार्य सकलकीर्ति (ई. 1433-1473) ने प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के बीस वें अध्याय में पूजन का विस्तृत वर्णन करते हुए पंचामृत अभिषेक का कोई वर्णन नहीं किया, जबकि वे स्वयं प्रतिष्ठाएं कराते थे। श्लोक 196 में यह घोषित किया कि जो उत्तम भाव से स्वच्छ जल से जिनदेव के अंग का प्रक्षालन करते हैं, उस धर्म से उनका महापाप मल क्षय हो जाता है।

13. आचार्य पद्मनन्दि-8 (1280-1330 ई.) ने श्रावकाचार सारोद्धार में जिन पूजन का विधान प्रोषधोपवास के दिन केवल आधे श्लोक में किया (श्लोक 313)। एक अन्य आचार्य पद्मनन्दि जी ने श्रावकाचार में जिनविम्ब, जिनालय बनवाकर नित्य ही स्तवन पूजन कर पुण्योपार्जन का विधान किया है (श्लोक 22-23)। ऐसा ही विधान उपासक संस्कार में पद्मनंदी नाम के आचार्य ने किया है (श्लोक 34-36)। किसी ने भी पंचामृत अभिषेक का उल्लेख नहीं किया।

14. पं. राजमल्ल जी ने लाटी संहिता के दूसरे सर्ग के 163-164 श्लोकों और पंचम सर्ग के 170-177 श्लोकों में पूजन का विधान किया है। दोनों स्थलों पर जल या पंचामृत अभिषेक का कोई उल्लेख नहीं किया।

15. माथुर संघ के आचार्य देवसेन (ई. 893-943) ने प्राकृत भाव संग्रह में देवपूजन का महत्व दर्शाकर जिनदेव के समक्ष धर्मध्यान करने और अपने को इन्द्र तथा जिन बिम्ब को साक्षात् जिनेन्द्र देव मानकर जल, घी, दूध और दही से भरे कलशों से स्तवन कर पूजन का विधान किया है (गा. 7-93)। इसी प्रकार पं. वामदेव ने संस्कृत भाव संग्रह में घर पर ही पंचामृत अभिषेक और पूजन का विधान किया है (श्लोक 28 से 58)।

16. सावय धम्म दोहा, श्री नेमिदत्त के धर्मोपदेश पीयूषवर्ती श्रावकाचार एवं भव्य धर्मोपदेश उपासकाध्ययन में जिनदेव ने घी, दूध आदि पंचामृत अभिषेक का विधान किया है।

17. गुणभूषणश्रावकाचार, व्रतसारश्रावकाचार, व्रतोद्योतन, श्रावकाचार, पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार, रयणसार, तत्त्वार्थ सूत्र, चारित्र पाहुड़ आदि में जलाभिषेक या पंचामृत अभिषेक का कोई विधान नहीं है।

18. संहिता सूरी पं. नाथूलाल जी ने 'बीस पंथ और तेरह पंथ चर्चा' (समन्वय वाणी-अगस्त 02 II) में उल्लेख किया है कि नये सवस्त्र

भट्टारकों ने अपने शिथिलाचार को पुष्ट करने कुन्द-कुन्द श्रावकाचार उमास्वामी श्रावकाचार पूज्यपाद श्रावकाचार, अकलंक बिंब प्रतिष्ठा पाठ आदि उन्हीं आचार्यों के नाम से रचवा कर मंदिरों के शास्त्र भंडारों में विराजमान करा दी। और उनके नाम से क्रियाकांड संचालित करते रहे। इनका खुलाशा पं. श्री जुगल किशोर जी मुख्तार, आचार्य श्री सूर्य सागर जी, पं. श्री पन्नालाल जी दूंनी वाले, पं. श्री मिलाप चन्द जी कटारिया तथा पं. श्री राजकुमार जी शास्त्री ने अपनी कृतियों में किया है, जो पठनीय हैं। दूसरे, पंचामृत अभिषेक का सम्बन्ध यक्ष-यक्षणी की पूजा-पद्धति से भी जुड़ा प्रतीत होता है। इन तथ्यों का अन्वेषण करना अपेक्षित है।

जलाभिषेक या पंचामृत अभिषेक पूजा की पद्धति है। इसका सम्बन्ध सम्यग-मिथ्या की धारणा की अपेक्षा अहिंसक पूजा पद्धति के विवेकपूर्ण औचित्य और दार्शनिक संगतता से जुड़ा है। यह भी विचारणीय है कि अहिंसा की साधना हेतु अ-स्नान व्रत धारी मुनिराज जब परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, तब उनकी मूर्ति के अभिषेक का क्या औचित्य है और फिर जब गृहस्थावस्था में जिस द्रव्य या द्रव्यों (रसों) से हम स्नान नहीं कर सकते, उन रसों से जिनेन्द्र देव का अभिषेक करना कितना युक्ति संगत कहा जा सकता है। बिना किसी की भावनाओं को आहत किये यह भी विचारणीय है कि पवित्र-मर्यादित दूध-घी-दही मिलना सर्वत्र सुलभ नहीं है, अभिषेक के जल/दूध में असंख्य जीव राशि उत्पन्न हो जाती है, मूर्तियों के रंध्रों में दूध-दही से चींटी आदि की त्रस हिंसा होती है, गंधोदक जल की विराधना, अहिंसा के और भी दार्शनिक पहलू है, जो मन को कुरेदते हैं उक्त तथ्य आगे अन्वेषण का आधार बन सकते हैं।

निष्कर्ष:

1. दार्शनिक और औचित्य की दृष्टि से जिन शासन में मूलतः जलाभिषेक की परम्परा ही रही है। पंचकल्याणक के समय नवीन

मूर्ति पर सर्वौपधि, चंदन लेप कर 'कालपूजा' में उसकी शुद्धि करते हैं। पश्चात् जलाभिपेक ही होता है। आगमिक संदर्भ सावधानी पूर्वक समझें।

2. पंचामृत अभिषेक श्वेताम्बर परम्परा एवं वैदिक परम्परा से प्रभावित और पल्लवित है। यद्यपि इस परम्परा का वीजारोपण सातवीं शती में आचार्य रविपेण ने किया किन्तु दसवीं शती में आचार्य सोमदेव ने पल्लवित किया। मूल संघ से भिन्न अपना स्वतंत्र अस्तित्व वनाए रखने हेतु माथुर संघ, काष्ठासंघ ने शिथिलाचार को आगे बढ़ाया यापनीय संघ एवं भट्टारक परम्परा ने इसे पुष्ट किया। इस दृष्टि से डॉ. वासुदेव उपाध्याय जैसे निष्पक्ष इतिहास मनीपियों के निष्कर्ष यथार्थता के निकट हैं। समग्रता में आगम एवं इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे विचारणीय है।

3. पूज्य आचार्य विद्यानंद जी जैसे प्रतिभा सम्पन्न तार्किक अध्ययन शील महामना के आगम, पुरातत्व एवं अनुभव आधारित सम्यक निष्कर्प अनुकरणीय/मननीय हैं।

4. बदलते परिप्रेक्ष्य में दार्शनिक मान्यता से साम्य रखने वाली परम्पराओं की पुनः स्थापना श्रमण परम्परा के अनुरूप होगी और अभिषेकों के नाम पर धनार्जन रुकेगा।

5. जो साहित्य जैन दर्शन मान्यता के विपरीत भ्रम उत्पन्न करने वाला है, उसे गौण किया जाना चाहिये जिससे सामाजिक सद्भाव में वृद्धि हो।

उक्त विवरण परोक्ष रूप से द्वितीयक सामग्री से उद्भूत है उसमें कहीं अन्यथा विवरण या चूक हुई हो तो उदार-विद्वानों के द्वारा संकेत किये जाने पर सहर्प शुद्धिकरण हेतु तत्पर हैं।

—बी 369 ओ.पी. एम. अमलाई
जिला—शहडोल म.प्र.

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

60/4

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-2

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अक में-

	कहाँ/क्या?		
1	**अध्यात्मपद**	कविवर दौलत राम जी	1
2	**सम्पादकीय**		2
3	**श्री मूलाचार की दृष्टि मे एकल विहार एव अनियत विहार**	रतनलाल बैनाडा	14
4	**तत्वार्थसूत्र मे गुणव्रत**	डॉ जयकुमार जैन	31
5	**श्रावकाचार और रात्रि भोजन विरमण व्रत**	डॉ अशोक कुमार जैन	42
6	**भक्तामर स्तोत्र में रस और अलकारो की योजना**	डॉ फूलचन्द्र जैन प्रेमी	53
7	**यह सप्तरगी अभिषेक कहा से आया ?**	- पानाचन्द जैन पूर्व जस्टिस, जयपुर	62

वर्ष- 60, किरण—4

अक्तुबर-दिसम्बर 2007

सम्पादक :

डॉ. जयकुमार जैन

429, पटेल नगर

मुजफ्फरनगर (उ प्र.)

फोन (0131) 2603730

संस्था की

संरक्षक सदस्यता

51,000/-

आजीवन सदस्यता

11,000/-

वार्षिक सदस्यता

1,000/-

इस अक का मूल्य

10

सदस्यों व मंदिरों के

लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :

भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :

मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली 32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अतर्गत आयकर में छूट

(रजि आर 10591/62)

अध्यात्म-पद

"हम तो कबहुँ न निज घर आये"

हम तो कबहुँ न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये।।

परपद निजपद मान मगन है, पर-परिणति लिपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतन भाव न भाये।।

नर पशु देव नरक निज जान्यो, परजय बुद्धि लहाये।
अमल अखण्ड अतुल अविनाशी, आतम गुन नहिं गाये।।

यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछिताये।
'दौल' तजो अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुहाये।।

कविवर दौलतराम जी

7138

सम्पादकीय

मूलाचार में वर्णित श्रमणचर्या एवं वर्तमान श्रमणचर्या

विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में पुरुषार्थमूलक श्रमणसंस्कृति का सर्वातिशायी महत्त्व स्वीकृत है। श्रम या पुरुषार्थ को महत्त्व प्रदान करने के कारण ही इसे श्रमण संस्कृति कहा गया है। चर्या शब्द चर् धातु से यत् प्रत्यय तथा स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय से निष्पन्न रूप है, जिसके अनेक अर्थ हैं- आहार, विहार, व्यवहार, व्रत, आचरण आदि। चर्या श्रमण संस्कृति के प्रमुख वाहक जैन धर्म को सुव्यवस्थित करने में मेरुदण्ड के समान मानी गई है। श्री बट्टकेर आचार्य द्वारा प्रणीत मूलाचार श्रमणचर्या का विवेचक मूल ग्रन्थ है। जैन चर्या सामर्थ्य के आधार पर दो भागों में विभक्त है– श्रमणचर्या और श्रावकचर्या। श्रमणचर्या मोक्ष का साक्षात् मार्ग है, जबकि श्रावकचर्या परम्परया मोक्षमार्ग कहा जा सकता है।

(क) मूलाचार में वर्णित श्रमणचर्या

मूलगुण

मुमुक्षु श्रमण जिन 28 गुणों को अनिवार्य रूप से सर्वदेश पालन करता है, उन्हें मूलगुण कहा गया है। मूल जड़ को कहते हैं। जैसे जड़ के बिना वृक्ष की स्थिति संभव नही है, वैसे ही मूलगुणों के बिना साधु या श्रमण की भी स्थिति संभव नही है। यदि कोई साधु मूलगुणों को धारण किये बिना उत्तरगुणों या अन्य चर्या का पालन करता है तो उसकी स्थिति वैसी ही कही गई है जैसी कि उस व्यक्ति की, जो अपनी अंगुलियों की रक्षा के लिए मस्तक काट देता है। इसी कारण मूलाचार के रचयिता श्री बट्टकेर आचार्य ने सर्वप्रथम मूलगुणों में विशुद्ध संयमियों को नमस्कार करके जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित 28 मूलगुणों का निर्देश किया है। पाँच महाव्रत, पॉच समिति, पॉच इन्द्रियरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थिति भोजन और

एकभक्त ये अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं।[1] अन्य सभी श्रमणचर्या विषयक ग्रन्थों में ये 28 ही मूलगुण कहे गये हैं। दिगम्बर परम्परा में इस विषय में कोई वैमत्य नही है। श्री वसुनन्दी ने 'मूलगुण उत्तरगुणाधारभूता' कहकर मुलगूणों को उत्तरगुणों का आधारभूत कहा है। भगवती अराधना आदि उत्तरगुण हैं। उनके कारण होने से व्रतों में मूलगुण का व्यपदेश होता है।[2]

पाँच महाव्रत

हिंसाविरति, सत्य, अदत्तपरिवर्जन, ब्रह्मचर्य एवं संगविमुक्ति ये पाँच महाव्रत कहे गये है। हिंसाविरति अहिंसा का पर्यायवाची है। काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि-इनमें सभी जीवों को जानकर स्थान आदि में हिंसा का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। रागादि के कारण असत्य बोलने का त्याग, परतापकारी सत्य वचनों का भी त्याग तथा सूत्र एवं अर्थ के कथन में अयथार्थ वचनों का त्याग करना सत्य महाव्रत है। अदत्तपरिवर्जन अचौर्य या अस्तेय का नामान्तर है। ग्राम आदि में गिरी हुई, भूली हुई जो भी छोटी या बड़ी वस्तु है उसे तथा परसंग्रहीत द्रव्य का ग्रहण न करना अदत्तपरिवर्जन महाव्रत है। स्त्रियों को और उनके चित्र को माता, पुत्री एवं बहिन के समान देखकर स्त्री कथा आदि से निवृत्त होना त्रैलोक्यपूजित ब्रह्मचर्य महाव्रत है। जीव सम्बद्ध, जीव-असम्बद्ध एवं जीव से उत्पन्न त्रिविध परिग्रह का यथा शक्ति त्याग करना और इतर परिग्रह में निर्ममत्व होना असंग या अपरिग्रह नामक महाव्रत है।[3]

पाँच समिति

सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति का नाम समिति है।[4] प्राणियों की पीड़ा का परिहार करने के लिए सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है।[5] ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान, मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन ये पाँच प्रकार की

समितियाँ हैं। प्रयोजन के निमित्त चार हाथ आगे जमीन देखने वाले साधु के द्वारा दिवस में प्रासुक मार्ग से जीवों का परिहार करते हुए गमन करना ईर्या समिति है। चुगली, हँसी, कठोरता, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर स्वपरहितकारी वचन बोलना भाषा समिति है। छ्यालिस दोषों से रहित, शुद्ध, कारणवश, नवकोटिविशुद्ध और शीतोष्ण आदि में समान भाव से भोजन ग्रहण करना एषणा समिति है। ज्ञानोपकरण, संयमोपकरण, शौचोपकरण अथवा अन्य उपकरण को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना एवं रखना आदाननिक्षेप समिति है। एकान्त, जीवजन्तुरहित, दूरस्थित, मर्यादित, विस्तीर्ण और विरोधरहित स्थान में मल-मूत्र आदि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है।[6]

पाँच इन्द्रियनिरोध

इन्द्रियनिरोध व्रत का विवेचन करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि मुनि को चाहिए कि वह चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं स्पर्शन इन पॉच इन्द्रियों को अपने विषयों से हमेशा रोके। सचेतन और अचेतन पदार्थों के क्रिया, आकार एवं वर्ण के भेदों में राग-द्वेष रूप संग का त्याग मुनि का चक्षुनिरोध है। षड्ज आदि जीव से उत्पन्न शब्द तथा वीणा आदि अजीव से उत्पन्न शब्द रागादि के निमित्त हैं। इनका नही करना कर्णेन्द्रिय निरोध है। जीव एवं अजीव स्वरूप सुखदुःख रूप प्राकृतिक तथा परनिमित्तक गंध में राग-द्वेष नही करना, मुनिराज का घ्राणनिरोध है। चतुर्विध अशन, पंचरसयुक्त, प्रासुक, निर्दोष, रुचिकर अथवा अरुचिकर आहार में लम्पटता का नही होना जिह्वा इन्द्रिय निरोध है। जीव एवं अजीव से उत्पन्न हुए कठोर, कोमल आदि अष्टविध सुख-दुःख रूप स्पर्श में मोह रागादि नही करना स्पर्शनेन्द्रिय निरोध है।[7]

मनुस्मृति में कहा गया है कि विद्वान् को चाहिए कि आकर्षित करने वाले विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को संयत रखने का प्रयत्न

करें, जिस प्रकार सारथी घोड़ों को संयत रखने का प्रयत्न करता है।[8] मूलाचार में अनगार भावनाधिकार में कहा गया है कि ये इन्द्रिय रूपी घोड़े स्वाभाविक दोष से प्रेरित होते हुए धर्मध्यान रूपी रथ को उन्मार्ग में ले जाते हैं अतः मन रूपी लगाम को मजबूत करो।[9] यहीं पर पाँच इन्द्रियों को व्रत और उपवासों के प्रहारों से वश में करने का विधान किया गया है।[10]

छह आवश्यक

प्रतिदिन अवश्य करणीय कार्यों को आवश्यक कहा जाता है। मूलाचार में कहा गया है कि जो राग-द्वेष आदि के वश नही होता है, वह अवश है तथा उसका करणीय आवश्यक कहलाता है।[11] आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जो अन्य के वश नही है, वह अवश है, उसका कार्य आवश्यक है, जो कर्मो का विनाशक, योग एवं निर्वाण का मार्ग है।[12] मूलाचार तथा श्रमणचर्या विषयक सभी अन्य ग्रन्थों में आवश्यक के छह भेद कहे गये हैं 1. समता अथवा सामायिक, 2. स्तव या चतुर्विंशतिस्तव, 3. वन्दना, 4. प्रतिक्रमण, 5 प्रत्याख्यान और 6. व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग।

जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु तथा सुख-दुख इत्यादि में समभाव होना सामायिक है। ऋषभ आदि तीर्थकरों का नाम-कथन, गुण-कीर्तन एवं पूजन करके मन-वचन काय से नमस्कार करना स्तव है। अरहन्त, सिद्ध और उनकी प्रतिमा को, तप श्रुत या गुणों में बड़ों को और अपने गुरु को कृतिकर्मपूर्वक या कृतिकर्म के बिना मन-वचन-काय से प्रणाम करना वन्दना है। निन्दा एवं गर्हापूर्वक मन-वचन-काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के विषय में किये गये उपराधों का शोधन करना प्रतिक्रमण है। भविष्य में आने वाले नाम, स्थापना आदि पाप के आगमहेतुओं का त्याग करना प्रत्याख्यान है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अतीत के दोषों का निराकरण प्रतिक्रमण तथा

भविष्य के दोषों का निराकरण प्रत्याख्यान कहलाता है। दैवसिक आदि नियम क्रियाओं में आगमोक्त प्रमाण के द्वारा आगमोक्त काल में जिनेद्र देव के गुणों के चिन्तनपूर्वक शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग आवश्यक है।[14]

सात शेष मूलगुण

प्रतिक्रमण दिन के समय में दो, तीन या चार माह में उत्तम, मध्यम या जघन्य रूप उपवासपूर्वक केशलोच का विधान किया गया है। यह लोच नामक मूलगुण है। हाथ से लोच करने में दैन्यवृत्ति, याचना, परिग्रह रखना आदि दोषों का होना संभव नही है। वस्त्र, चर्म, वल्कल, पत्र आदि से शरीर को नही ढकना तथा अलंकार एवं परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ वेष में रहना अचेलकत्व नामक मूलगुण है। स्नानादि का त्याग कर देने से जल्ल, मल एवं पसीने से सर्वांग लिप्त हो जाना अस्नान मूल गुण है। इससे मुनि के प्राणीसंयम और इन्द्रिसंयम का पालन होता है। अल्प भी संस्तर से रहित एकान्त में प्रासुक भूमि पर दण्डाकार या धनुषाकार शयन करना क्षितिशयन मूलगुण है। अंगुली, नख, दातौन और तिनके के द्वारा अथवा पत्थर, छाल आदि के द्वारा दाँतों के मल का शोधन न करना अदन्तमन या अदन्तधावन मूलगुण है। इससे संयम की रक्षा होती है। दीवाल आदि का सहारा न लेकर निर्जन्तुक भूमि पर पैर रखकर खड़े होकर दोनों हाथ की अंजुली बनाकर भोजन करना स्थिति भोजन मूलगुण है। सूर्योदय एवं सूर्यास्त के काल में से तीन-तीन घड़ी छोडकर मध्यकाल में एक, दो, या तीन मुहूर्त काल में एक बार भोजन करना एकभक्त मूलगुण है।[15] लोच से एकभक्त तक के सात मूलगुण साधु के बाह्य चिन्ह हैं।

उक्त मूलगुणों के फल का प्रतिपादन करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि इन मूलगुणों को विधिपूर्वक मन-वचन-काय से पालन करके मनुष्य जगत् में पूज्य होकर अक्षय सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता

है।[16] इन अट्ठाईस मूलगुणों में श्रमण की आहारचर्या, विहारचर्या एवं प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार व्यवस्था समाविष्ट है, किन्तु मूलाचार के मूलागुणाधिकार से भिन्न अन्य अधिकारों में भी इनका महत्त्वपूर्ण विवेचन हुआ है। इसे संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है।

आहारचर्या

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को आहार कहते हैं।[17] आचार्य बट्टकेर ने मूलाचार के पिण्डशुद्धि नामक अधिकार में साधु की आहारचर्या का तथा उसकी शुद्धि का विस्तृत विवेचन किया है। आहार के छ्यालिस दोषों का वर्णन करते हुए श्री बट्टकेर आचार्य ने कहा है कि श्रमण छह कारणों से आहार ग्रहण करने पर भी धर्म का आचरण करतें हैं तथा छह कारणों से आहार का त्याग करने पर भी धर्म का आचरण करते हैं। वे 1. वेदना शमन हेतु, 2. वैयावृत्ति के लिए, 3. क्रियाओं के लिए, 4. संयम के लिए, 5. प्राणों की चिन्ता तथा 6. धर्म की चिन्ता के लिए आहार ग्रहण करते हैं। 1. आतंक होने पर, 2. उपसर्ग आने पर, 3. ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु, 4. प्राणियों पर दया के लिए, 5. तप के लिए और 6. संन्यास के लिए आहार त्याग करते हैं। साधु को चाहिए कि वे बल, आयु, स्वाद, शरीरपुष्टि या तेज के लिए आहार ग्रहण न करें अपितु ज्ञान सयम एव ध्यान के लिए आहार ग्रहण करें।[18] (मूला. 478, 481)

श्रमण प्रासुक भोजन ही ग्रहण करते हैं किन्तु यदि प्रासुक भोजन भी अपने लिए बना हो तो वह भाव से अशुद्ध ही समझना चाहिए। **उन्हें** द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं बलवीर्य को जानकर जिनमतोक्त एषणा समिति का पालन करना चाहिए।[19] (मू. 485, 490)

आहार के परिमाण का कथन करते हुए कहा गया है कि उदर का आधा भाग भोजन से भरे, तीसरा भाग जल से भरे तथा चौथा भाग

वायु के संचरण के लिए खाली रखे।[20] आहार के लिए निकले हुए श्रमण शरीर से वैराग्य, संग से वैराग्य एवं संसार से वैराग्य का विचार करते हुए विचरण करते है[21] तथा काक आदि 32 प्रकार के अन्तरायों का परिहार करते हुए आहार ग्रहण करते हैं।

अभिघट दोष के विवेचन के प्रसंग में मूलाचारकार का कथन है कि **सरल पंक्ति से तीन या सात घर से आई हुई वस्तु आचिन्न अर्थात् ग्राह्य है तथा उन घरों से अतिरिक्त या सरल पंक्ति से विपरीत आई हुई वस्तु अनाचिन्न अर्थात् अग्राह्य है।**[22] क्योंकि इसमें ईर्यापथशुद्धि नही रहती है।

विहारचर्या

जैन श्रमण अकारण किसी एक स्थान पर निवास नही करते हैं, अतः विहारचर्या श्रमण जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। विहारशुद्धि का कथन करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि परिग्रहरति निरपेक्ष स्वच्छन्दविहारी साधु वायु के समान नगर, वन आदि से युक्त पृथिवी पर उद्विग्न न होकर भ्रमण करता रहे। पृथ्वी पर विहार करते हुए वह किसी को पीड़ा नही पंहुचाता है। जीवों के प्रति उसी प्रकार दयाभाव रखता है, जिस प्रकार माता पुत्रों पर दया रखती है।[23] शिवार्य ने भगवती आराधना में कहा है कि अनेक देशों में विहार करने से क्षुधाभावना, चर्या भावना आदि का पालन होता है। अनेक देशों में मुनियों के भिन्न-भिन्न आचार का ज्ञान होता है तथा विभिन्न भाषाओं में जीवादि पदार्थों के प्रतिपादन का चातुर्य प्राप्त होता है।[24] विहारकाल में मुनि के विशुद्ध परिणामों का कथन करते हुए श्री बट्टकेर आचार्य ने कहा है कि वे उपशान्त, दैन्य से रहित, उपेक्षा स्वभाव वाले, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, मूर्खता रहित और कामभोगों में विस्मयरहित होते हैं।[25]

यत्नाचारपूर्वक श्रमण को योग्य क्षेत्र में तथा योग्य मार्ग में विहार करना चाहिए। बैलगाड़ी, अन्य वाहन, पालकी/रथ अथवा ऐसे ही अनेक

वाहन जिस मार्ग से अनेक बार गमन कर जाते हैं, वह मार्ग प्रासुक है। हाथी, घोड़े, गधा, ऊँट, गाय, भैंस, बकरी या भेड़ें जिस मार्ग से अनेक बार चलते हैं, वह मार्ग प्रासुक हो जाता है। जिस पर स्त्री-पुरुष चलते रहते हैं, जो आतप आदि से तप्त हो चुका है तथा जो शस्त्रों से क्षुण्ण हो गया है, वह मार्ग प्रासुक हो जाता है।[26]

मूलाचार में साधु के विहार के सम्बन्ध में कहा गया है कि गुरु से पूछकर उनसे आज्ञा लेकर मुनि अपने सहित चार, तीन या दो साथियों के साथ विहार करे। तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव, संहनन और धैर्य से परिपूर्ण, दीक्षा और आगमन में बली मुनि एकलविहारी भी स्वीकार किया गया है। गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मल-मूत्र विसर्जन करने में स्वच्छन्द तथा बोलने में स्वच्छन्द रुचि वाले मुनि को 'मा मे सत्तूवि एकागी' (मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे) कहकर एकलविहारी होने का निषेध किया गया है। एकाकी विहार से गुरुनिन्दा, श्रुतविनाश, तीर्थ की मलिनता, मूढता, आकुलता, कुशीलता एवं पार्श्वस्थता दोष आ जाते हैं। वह कॉटे, ठूँठ, विरोधी, कुत्ता, बैल, सर्प, म्लेच्छजन, विष, अजीर्ण आदि रोगों से विपत्ति को प्राप्त हो जाता है। एकाकी रहने वाले के आज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था, मिथ्यात्वसेवन, आत्मनाश, संयमविराधना ये पॉच पापस्थान उत्पन्न हो जाते हैं।[27]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूलाचार में अनियत विहार का विधान करते हुए साधु के स्वच्छन्द एकल विहार का निषेध किया गया है। श्रमण का व्यवहार अट्ठाईस मूलगुणों के परिपालन वाला, आहार पूर्णतः शुद्ध तथा विहार अनियत एवं ससंघ या स्वच्छन्द एकलविहारहीन होना चाहिए।

(ख) वर्तमान श्रमणचर्या

आज भी अनेक श्रमण 28 मूल गुणों के निरतिचार पालक हैं। जैन

मुनि पाँच पापों का सर्वथा सर्वदेश त्याग करके पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं। आर्यिकायें उपचार से ही सही, पाँच महाव्रतों का पालन करने में उद्यत रहती हैं। पाँच महाव्रतों में अहिंसा प्रथम महाव्रत है। शेष चार अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए हैं। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भावहिंसा का विवेचन करते हुए लिखा है कि रागादि भावों की उत्पत्ति न होना अहिंसा है और उन्हीं की उत्पत्ति होना हिंसा है, यह जिनागम का सार है।[28] हम कतिपय साधुओं की साधुचर्या पर कोई टिप्पणी करके अघोषित उग्रवाद या आतंकवाद के शिकार बनें या फिर अनधिकारी कहलाकर भक्तों की गालियाँ एवं ताड़ना सहन करें, यह सामर्थ्य अब रही नही है। अतः दिशाबोध अक्टूबर 07 के अंक से कुछ यथार्थ यथावत् उद्धृत करना चाहते हैं। साधु एवं श्रावक स्वयं विचार करें कि क्या यही महाव्रतों का पालन है ?

गत वर्ष सम्पन्न श्रवणबेलगोल महामस्तकाभिषेक समारोह से बावनगजा महामस्तकाभिषेक समारोह की तुलना।

मुनिश्री तरुणसागर जी के विगत माह सम्पन्न रजत संयम वर्ष महोत्सव से आचार्य श्री विरागसागर जी के दिसम्बर माह में सम्पन्न होने वाले रजत मुनि दीक्षा समारोह की तुलनात्मक मानसिकता।

बुन्देलखण्ड के कुछ सन्तसमूह के भक्तों में हो रही वर्चस्व की लड़ाई।

गणिनी श्री ज्ञानमति माताजी के गत वर्ष सम्पन्न स्वर्णिम दीक्षा जयन्ती समारोह से गणिनी श्री सुपार्श्वमति माता जी के इसी माह सम्पन्न होने वाले स्वर्णिम दीक्षा जयन्ती समारोह की प्रतिस्पर्धा।

उस मुनि के चातुर्मास के कार्यक्रम मेरे चातुर्मासिक कार्यक्रम से इक्कीस क्यों, ऐसी भावना।[29]

पाँच समितियों का मनसा, वचसा, कर्मणा पालन करने वाला साधु क्या अपने भक्तों द्वारा चातुर्मास की स्थापना के लिए संख्याबल एवं

शक्ति प्रदर्शन को आधार बना सकता है ? क्या योजना आयोग की तरह कोई साधु अपने कार्यक्रमों की परिपूर्ति न देखकर स्वयं को एक महानगर से कुछ ही समय में अन्य महानगर में स्थानान्तरित कर सकता है ? क्या दिन में औसत 30-35 कि.मी. चलकर ईर्या समिति पाली जा सकती है ? अन्यों को समितियों का पाठ पढ़ाने वाले पाठक साधु स्वयं विचार करें तो अच्छा है। साधु की भाषा समिति का प्रत्यक्ष दर्शन तो गुवाहाटी दशलक्षण प्रवास में मैंने स्वयं किया है, जहाँ एक बहिन से साधु ने यथेच्छ दान-चन्दा न देने पर तथा अपने पुत्र से पूछकर देने की बात कहने पर कहा कि क्या तुम अपने पति के साथ रति भी अपने पुत्र से पूछकर करती हो ? बहुत बवाल मचा समाज में, किन्तु अर्थार्थी भक्तों की कमी नहीं है। अब वे अन्य राजधानी में अपना डंका बजा रहें हैं ? इच्छानुसार आहार बनवाना तथा फ्लश के शौचालयों का उपयोग करना क्या समितियों के परिपालन में बाधक नहीं है ? यदि नहीं तो फिर मूलगुणों से इन्हें हटाने का उपक्रम साधु समाज को करना चाहिए।

दिशाबोध में 'अन्जामें गुलिस्ता क्या होगा ?' कहकर अनेक प्रश्न उठाये गये हैं। उनमें से एक प्रश्न उठाकर मैं कतिपय साधुओं के इन्द्रिय निरोध की ओर दिशाबोध के सम्पादक की ओर से इशारा करना चाहता हूँ

"विचारणीय है कि पॉच इन्द्रियों के विषयों का निग्रह करने वाला सन्त क्या सेंट या ईतर का प्रयोग कर सकता है ? क्या मधुर संगीत की रागिनी का दीवाना होना उसके लिए उचित है ? क्या चाटुकारों की भीड़ इकट्ठी कर कविसम्मेलनों में एक मुनि का बैठना उचित है ? क्या मात्र रसना इन्द्रिय का निग्रह ही एकमात्र साधना है।"[30]

दिशाबोध की उक्त टिप्पणी बहुत कुछ कहती है। विचार करें।

साधुओं के द्वारा तन्त्र-मन्त्र का लौकिक कार्यों के लिए प्रयोग अविचारितरम्य हो सकता है। इस विषय में श्री सुरेश जैन सरल के

कथन को उद्धृत कर इस विषय पर अधिक कहना उचित नहीं लगता है। वे लिखते हैं कि "किसी जैन साधु को तन्त्र-मन्त्र की सेना के साथ देखें तो विश्वास करलें कि उन्हें जैनागम का ठोस ज्ञान नहीं है। फलतः भटकन की चर्या में जी रहे हैं। उनके पास दो-दो चार-चार श्रावकों के समूह में जावें और कर्म सिद्धान्त का अध्ययन करने को मनावें। जो मान जावें, उनमें परिवर्तन की प्रतीक्षा करें और जो ने मानें, उन्हें धर्म की दुकान चलाने वाला व्यापारी मानें। ऐसा व्यापारी जिसे अपने लाभ और यश की चिन्ता है, परन्तु समाज और धर्म की नही।"[31]

कतिपय साधुओं के समीप दो-चार दिन रहकर उनके षड् आवश्यकों के परिपालन को अच्छी तरह जाना जा सकता है। हाँ, शेष सात मूलगुण वाले बाह्य लक्षण आज भी प्रायः सभी साधुओं में दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

आज अनियतविहार की प्रवृत्ति छोड़कर कुछ साधु अपने मठ बनाने लगें हैं, आचार्य के अनुशासन का उच्छृंखलतापूर्वक निरादर किया जा रहा है, अयोग्यों को दीक्षा दी जा रही है, अन्य संघ पर साधु-साध्वियाँ कटाक्ष कर रहें हैं, आचार्य/उपाध्याय बनने की होड़ लग गई है, साधुओं की चारित्रिक गर्हा सुनाई पड़ना अब आम बात सी होती जा रही है, साधु अब पीछी-कमण्डलु के साथ टी.वी, कूलर, फोन, मोटर गाड़ी, कंप्यूटर, चूल्हा-चक्की आदि को रखना आवश्यक सा समझने लगे है अपने नाम पर संघों की स्थापना करना उनका उद्देश्य बन गया है। अपने नाम बैंक एकाउण्ट रखकर स्वयं उसे संचालित कर रहें हैं। राजनेताओं की तरह राजकीय अतिथिपना अब स्टेटस सिंबल बन गया है। प्रथमानुयोग की कथायें छोड़कर विकथायें उपदेश का आधार बन गई हैं। ऐसी स्थिति में साधुओं की मूलाचार, भगवती आराधना एवं अष्टपाहुड के स्वाध्याय की ओर रुचि जाग्रत हो-ऐसा श्रावकों का भी प्रयास होना चाहिए।

(1) मूलाचार, गाथा 2-3
(2) 'उत्तरगुणानां कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते।'
भगवती आराधना, विजयोदया टीका
(3) मूलाचार, गाथा 4-9
(4) 'सम्यगितिः समितिरिति।'-तत्त्वार्थवार्तिक 9/2
(5) 'प्राणिपीडापरिहारार्थं सम्यगदनं समितिः।' सर्वार्थसिद्धि 9/2
(6) मूलाचार, गाथा 4 9
(7) वही, गाथा 16 15
(8) मनुस्मृति, द्वितीय अध्याय 88
(9) मूलाचार, गाथा 881
(10) वही, गाथा 882
(11) वही, गाथा 515
(12) णियमसार, 141
(13) मूलाचार, गाथा 22, 516
(14) वही, गाथा 23 28
(15) वही, गाथा 29 35
(16) वही, गाथा 36
(17) सर्वार्थसिद्धि, 2/30
(18) मूलाचार, गाथा 478 481
(19) वही, गाथा 485, 490
(20) वही, गाथा 491,
(21) मूलाचार की 493 की आचारवृत्ति टीका
(22) मूलाचार, गाथा 439
(23) वही, गाथा 799 800
(24) भगवती आराधना, 148
(25) मूलाचार, गाथा 806
(26) वही, गाथा 304 306
(27) वही, गाथा 147, 149 154
(28) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 44
(29) दिशाबोध, अक्टूबर 07, पृ. 6
(30) वही, पृष्ठ 7 8,
(31) वही, पृष्ठ 22 23

डॉ. जयकुमार जैन

श्री मूलाचार की दृष्टि में एकल विहार एवं अनियत विहार

रतनलाल बैनाड़ा

वर्तमान में एकल विहार तथा अनियत विहार के संबंध में बहुत विसंगतियां दृष्टिगोचर हो रही हैं। पत्र-पत्रिकाओं में भी इन दोंनों विषयों पर निरंतर लेख पढ़ने में आ रहे हैं। बहुत से मुनि स्वच्छंद होकर एकल-विहारी बन गये हैं। एकल विहार की परिभाषायें भी मनमानी होने लगी हैं। कोई कम से कम समलिंगी दो साधु होने पर ही ठीक मानते हैं और एक मुनि के साथ यदि कोई क्षुल्लक जी हों तो भी उनको एकल विहारी माना जा रहा है। अनियत विहार तो अधिकांश मुनियों ने समाप्त ही कर दिया है। सारे विहार नियत हो गये हैं क्योंकि शानदार स्वागत देखने की इच्छा साधुओं में बलवती हो गई है। इसको उनकी श्रेष्ठता का मापदंड माना जाने लगा है। ऐसी विषम परिस्थितियों में एकल विहार तथा अनियत विहार पर आगम की दृष्टि से विचार करना अत्यंत आवश्यक भी है और उपयोगी भी। साधु संबंधी आचार ग्रंथों में 'मूलाचार' को सर्वसम्मति से सर्वोपरि माना जाता है। अतः श्री मूलाचार के आधार से सर्वप्रथम एकल विहार पर विचार किया जाता है।

मूलाचार की दृष्टि में एकल विहार

एकल विहार शब्द का अर्थ है अकेले विहार करना अथवा संघ से अलग अकेले होकर विहार करना। यद्यपि अकेले विहार करना या संघ के साथ विहार करना, यह साधु के 28 मूलगणों में नहीं आता। परन्तु साधु चर्या के निर्दोष पालन के लिये एकल विहार को उपयुक्त नहीं कहा गया है। एकल विहार करने पर निम्नलिखित दोष कहे गये है :-

गुरूपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा।
भिंभल कुसील पार्श्वस्थता य उस्सार कप्पम्हि।।151।।

अर्थः स्वेछाचार की प्रवृति में गुरु की निंदा, श्रुत का विनाश, तीर्थ की मलिनता, मूढता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता ये दोष आते हैं।

आचार वृत्तिः संघ को छोड़कर एकाकी विहार करने पर उस मुनि के गुरु का तिरस्कार होता है। इस शीलशून्य मुनि को किसने मूंड दिया है ऐसा लोग कहने लगते हैं। श्रुत की परंपरा का विच्छेद होता है अर्थात् ऐसे एकाकी अनर्गल साधु को देखकर अन्य मुनि भी ऐसे हो जाते हैं, पुनः कुछ अन्य मुनि भी देखा-देखी अपने गुरु के संघ में रहते हैं। तब शास्त्रों के अर्थ को ग्रहण न करने से श्रुत का नाश हो जाता है। इस जैन शासन में सभी मुनि ऐसे स्वच्छंद ही होते हैं, ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहने लगते हैं, इससे तीर्थ की मलिनता हेती है। तथा उस मुनि में स्वयं मूर्खता, आकुलता, कुशीलता (ब्रह्मचर्य का नाश) और पार्श्वस्थ (शिथिलाचार) रूप दुर्गुण प्रवेश कर जाते हैं। इसी ग्रंथ में एकाकी विहार करने वाले मुनि को पाप श्रमण कहा है।

आचरिय कुलं मुच्वा विहरइ एगागिणो य जो समणो।
जिणवयणं णिंदंतो सच्छंदो होइ मिगचारी। (टि. पृष्ठ 438)

अर्थः आचार्य के संघ को छोड़कर जो एकाकी विहार करते हैं, स्वछंद प्रवृत्ति रखते हैं, वे मृगचारी मुनि कहलाते हैं। ये वंदना के योग्य नहीं होते।

आयरिलकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्सणोत्ति वुच्चदि दु।।961।।

अर्थः जो श्रमण आचार्य संघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है, और उपदेश को ग्रहण नहीं करता है वह पाप श्रमण कहलाता है।

आ० कुन्दकुन्द ने भी सूत्रप्राभृत में इस प्रकार कहा है :

उक्किट्ठसीहचरियं वहु परियम्मो य गुरुयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं, पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं।।9।।

अर्थः जो मुनि सिंह के समान उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकार के परिकर्म (व्रत उपवास आदि) करते हैं, आचार्य आदि के पद का गुरु भार संभालते हैं परन्तु स्वछंद विहार करते हैं, वे पाप को प्राप्त हैं एवं मिथ्यादृष्टि होते हैं।

यहाँ एकल विहार से उपर्युक्त दोष तो आते ही है, इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विपत्तियां भी आ जाती हैं।

कहा भी है :

कंटयखण्णुय पडिणिय साण गोणादि सप्प मेच्छेहिं।
पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव।।152।।

अर्थः कांटे, ठूंठ, विरोधीजन, कुत्ता, गौ आदि, सर्प, म्लेच्छजन, विष तथा अजीर्ण आदि रोगों से अपने आप में विपत्ति को प्राप्त कर लेता है।

आचार वृत्ति निश्चय से एकाकी विहार करता हुआ मुनि कांटे से, ठूंठ से, मिथ्यादृष्टि क्रोधी विराधी जनों से, कुत्ते गाय आदि पशुओं से या सांप आदि हिंसक प्राणी से अथवा म्लेच्छ अर्थात् नीच अज्ञानी जनों के द्वारा स्वयं को कष्ट में डाल देता हैं। अथवा विषैले आहार आदि से या हैजा आदि रोगों से आत्म विपत्ति को प्राप्त कर लेता है।

एकल विहरी मुनि के क्या इतने ही पाप स्थान होते हैं या अन्य भी? इस पर आचार्य कहते हैं:

आणा अणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य।
संजम विराहणाविय एदे दुणिकाइया ठाणा।।154।।

अर्थः एकाकी रहने वाले के आज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था, मिथ्यात्व का सेवन, आत्मनाश और संयम की विराधना ये पांच पाप-स्थान माने गये हैं।

भावार्थ : एकल विहारी मुनि के सर्वज्ञ देव की आज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था अर्थात् अन्य मुनि भी उसे एकाकी देखकर वैसी ही प्रवृत्ति करने लग जायेगें, लोगों के संपर्क होने से अपना सम्यक्त्व छूट जाना और मिथ्यात्वियों के संसर्ग से मिथ्यात्व का सेवन या संस्कार वन जाना, अपने सम्यक्त्व आदि गुणों का नाश होने से आत्मनाश तथा मर्यादा रहित स्वच्छंद इच्छानुसार जीवन हो जाने से संयम की भी विराधना हो जाती है।

उपरोक्त आपत्तियों के कारण श्री मूलाचार में एकल विहार की आज्ञा नहीं है। फिर भी यदि किसी साधु को विशेष अध्ययन आदि के लिये किसी अन्य संघ में या अन्य आचार्य के पास जाना पड़े तो उसे किस प्रकार जाना चाहिये ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं :

एवं आपुच्छित्ता सगवर गुरूणा विसज्जिओ संतो।
अप्पचउत्थो तदिओ वासो तदो णीदी।।147।।

अर्थः इस प्रकार गुरु से पूछकर अर्थात् आज्ञा प्राप्त कर, अपने गुरु से मुक्त होकर वह अपने सहित चार, तीन या दो होकर वहाँ से चला जाता है। अर्थात् एकाकी नहीं जाता।

इस गाथा के अर्थ में वर्तमान में कुछ स्वाध्यायी जन स्वेच्छा से अर्थ करने लगे हैं। उनका कहना है कि कम से कम दो समलिंगी अर्थात् साधु हों, तब ही विहार होता है। पर ऐसा अर्थ न तो गाथा से निकल रहा है और न टीका से ही। टीका में भी इस प्रकार कहा है। "एवमापृच्छ्य स्वकीयवरगुरुभिश्च विसृष्टः सन् आत्मचतुर्थो निर्गच्छति, आत्मतृतीय आत्मद्वितीयो वा उत्कृष्टमध्यमजघन्य भेदात्"। अर्थ इस प्रकार पूछकर, अपने गुरु से अलग होता हुआ अपने सहित चार, तीन या दो होकर, उत्कृष्ट मध्यम जघन्य के भेद से, चला जाता है। इसी टीकार्थ में भी समलिंगी का कोई वर्णन नहीं है। श्री मूलाचार के अलावा अन्य भी किसी श्रमणाचार प्ररूपक ग्रंथ में कम से कम दो समलिंगी

होने का वर्णन नहीं मिलता। फिर अपनी मनमर्जी से अर्थ का अनर्थ नहीं करना चाहिए। अर्थात् सही अर्थ तो यही निकल रहा है कि वह मुनि, अकेला न जाकर, अन्य एक, दो, या तीन के साथ गमन करे। यहाँ पर श्री आचारसार के निम्न श्लोक पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है :

इत्येवं वहुशः स्पृष्ट्वा, लब्ध्वानुज्ञां गुरोर्व्रजेत्।
व्रतिनैकेन वा द्वाभ्यां, बहुभिः सह नान्यथा।।26।।

अर्थः इस प्रकार यह बारंबार पूछकर गुरु की अनुमति को प्राप्तकर एक, दो अथवा बहुत व्रतियों के साथ जावे, अकेला नहीं जावे।

विशेष यहाँ भी 'व्रतिना' शब्द दिया है, मुनिना नहीं दिया। यदि आचार्य को समलिंगी ही कहना होता, तो 'मुनिना' लिखना था, पर ऐसा नहीं किया। इससे भी यह स्पष्ट हो रहा है कि आचार्य को समलिंगी वाले नियम का प्रसंग स्वीकार नहीं है।

श्री मूलाचार में साधु का विहार दो प्रकार का बताया है :

गिहिदत्थे य विहारो विदिओऽगिहिदत्थ संसिदो चेव।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं।।148।।

अर्थः गृहीतार्थ नाम का एक विहार है और अगृहीतार्थ से सहित विहार दूसरा है। इनसे अतिरिक्त तीसरा कोई भी विहार जिनेन्द्र देव ने स्वीकार नही किया है। **आचारवृत्ति** गृहीता जान लिया है अर्थ तत्वों जीवादि को जिन्होंने, उनका विहार गृहीतार्थ है यह पहला विहार है अर्थात् जो जीवादि पदार्थों के ज्ञाता महासाधु देशांतर में गमन करते हुये चारित्र का अनुष्ठान करते हैं उनका विहार गृहीतार्थ विहार है। यह साधु एकल विहारी होता है। दूसरा विहार अगृहीत अर्थ से सहित का है। इनके अतिरिक्त तीसरा विहार अर्हन्तदेव ने स्वीकार नहीं किया हैं।

विशेष यहाँ टीकाकार का अभिप्राय यह है कि गृहीतार्थ विहार

वाला साधु अकेले भी विहार करता है। इस पर पुनः प्रश्न उठता है कि वह एकल विहारी साधु कैसा होता है ? आचार्य लिखते हैं :

तवसुत्तसत्तएगत्त भव संघडण धिदिस मग्गो य।
पविआ आगम बलिओ, एयविहारी अणुण्णादो।।149।।

अर्थः तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्व भाव, संहनन, और धैर्य इन सबसे परिपूर्ण तथा दीक्षा और आगम में बली मुनि एकल विहारी स्वीकार किया गया है।

आचार वृत्ति अनशन आदि बारह प्रकार का तप है। बारह अंग चौदह पूर्व रूप सूत्र है। अथवा उस काल क्षेत्र के अनुरूप जो आगम है वह भी सूत्र, तथा प्रायश्चित्त ग्रंथ आदि भी सूत्र नाम से कहे गये हैं। शरीरगत बल को, अस्थि की शक्ति को अथवा भावों के बल को सत्त्व कहते हैं। शरीर आदि से भिन्न अपनी आत्मा में रति का नाम एकत्व है। शुभ परिणाम को भाव कहते हैं यह सत्व का कार्य है। अस्थियों और त्वचा की दृढ़ता वज्रवृषभ आदि तीन संहननों में विशेष रहती है। मनोबल को धैर्य कहते हैं। क्षुधादि से व्याकुल नहीं होना धैर्य गुण है। जो इनसे युक्त है, साथ ही दीक्षा तथा आगम से भी बलवान है अर्थात् तपश्चर्या से वृद्ध है, आचार ग्रंथों के अनुकूल चर्या में निपुण हैं ऐसे गुण विशिष्ट मुनि को ही जिनेन्द्रदेव ने एकल विहारी होने की अनुमति दी है।

उपरोक्त गाथा के संदर्भ में विशेष विचार किया जाय तो टीका के अनुसार अन्य सभी गुणवाले साधु तो वर्तमान में हो सकते हैं परन्तु केवल तीन उत्तम संहनन वाला होना वर्तमान पंचम काल में संभव नहीं है। इस पर प्रश्न उठता है कि यदि पंचम काल में तीन शुभ संहनन न होने से कोई भी साधु एकल विहार नहीं कर सकता, तो फिर इस ग्रंथ में इतनी चर्चा ही क्यों की गई ? केवल एक गाथा में इतना ही लिखना ही पर्याप्त था कि वर्तमान पंचमकाल में एकल विहार हो ही नही

सकता। परन्तु इतना विशेष लिखने का अर्थ यही ध्वनित होता है कि टीकाकार का अभिप्राय उत्कृष्टता की अपेक्षा तीन उत्तम संहनन प्रतीत होता है। जबकि मूलगाथा में तीन उत्तम संहनन का उल्लेख ही नहीं है। अतः यहाँ संहनन का अर्थ शारीरिक शक्ति से सहित लगाना ही उचित प्रतीत होता है। यदि अन्य ग्रंथों पर दृष्टि दी जाय तो आचार सार में इस प्रकार कहा है :

ज्ञानसंहननस्वांतभावनाबलवन्मुनेः
चिरप्रव्रजितस्यैकविहारस्तु मतः श्रुते।।27।।
एतद्गुणगणामेतः स्वेच्छाचाररतः पुमान्।
यस्तस्यैकाकिता मा भून्मम जातु रिपोरपि।।28।।

अर्थ : बहुत काल के दीक्षित ज्ञान, संहनन, स्वांत भावना से बलशाली मुनि के एकाकी विहार करना शास्त्रों में माना है। परन्तु जो इन गुणों के समूह से रहित स्वेच्छाचार में रत पुरुष हैं उस मेरे शत्रु के भी एकाकी विहार कभी नहीं हो। श्री मूलाचार गाथा 150 में भी इसी प्रकार कहा है।

उपर्युक्त श्लोकों में भी मात्र अच्छे संहनन का कथन किया गयाा है पर यह नहीं लिखा कि तीन उत्तम संहननों में से कोई एक होना चाहिए।

श्री मूलाचार प्रदीप में एकल विहार के संबंध में कुछ और भी कहा है :

स्वेच्छावासविहारादिकृतामेकाकिनां मुनि।
हीयन्ते सद्गुणा नित्यं वर्द्धन्ते दोषकोटयः।। 2224।।
अथाहो पंचमे काले, मिथ्यादृग्दुष्टपूरिते।
हीनसंहननानां च मुनीनां चंचलात्मनाम्।। 2225।।
द्वित्रितुर्यादिसंख्येन समुदायेन क्षेमकृत्।
प्रोक्तोवासो विहारश्च व्युत्सर्गकरणादिकः।। 2226।।

अर्थ : जो मुनि अकेले ही अपनी इच्छानुसार चाहे जहाँ निवास करते हैं, चाहे जहाँ विहार करते हैं, उनके सर्वश्रेष्ठ गुण नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों दोष प्रति दिन बढते रहते हैं ।। 2224 ।।

यह पंचम काल मिथ्यादृष्टि और दुष्टों से भरा हुआ है। तथा इस काल में जो मुनि होते हैं वे हीनसंहनन को धारण करने वाले और चंचल होते हैं। ऐसे मुनियों को इस पंचमकाल में दो, तीन, चार आदि की संख्या के समुदाय से ही निवास, विहार तथा कायोत्सर्ग करना कहा गया है। ।। 2225 2226।।

उपरोक्त सभी प्रसंगों को ध्यान में रखते हुये संक्षेप से हम कह सकते हैं कि श्री मूलाचार के अनुसार एकल विहार को अच्छा नहीं माना गया है, परन्तु फिर भी गुरु की आज्ञा लेकर दृढ़ चारित्र एवं संहनन वाले साधु अन्य किसी एक, दो आदि के साथ विहार कर सकते हैं, एकदम अकेले विहार नहीं।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि चा० च० आचार्य शांतिसागर जी महाराज ने भी 4 वर्ष तक अकेले ही विहार किया था, आ० ज्ञानसागर जी, मुनि चन्द्रसागर जी, मुनि अनंतकीर्ति जी आदि महान् उत्कृष्ट चर्या वाले साधुओं ने भी वर्षों तक अकेले ही विहार किया था। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि एकल विहार से शिथिलाचार को बल मिलता है, फिर भी गुरु आज्ञा से योग्य साधु के एकल विहार का सर्वथा निषेध नहीं है।

जहाँ तक आर्यिकाओं का प्रश्न है, उनके लिये एकल विहार की बिलकुल आज्ञा नहीं है।

श्री मूलाचार प्रदीप में आर्यिकाओं के लिए इस प्रकार कहा है :

यतो यथात्र सिद्धान्नं भोक्तुं सुखेन शक्यते।

तथा चास्वामिकां नारीं स्वाश्रमे स्वयमागताम्।। 2303।।
अतो जातु न विद्येत क्वचित्काले निजेच्छया।
एकाकिन्यार्यिकायाश्च विहारो गमनादिकः।। 2304।।

अर्थ : जिस प्रकार पकाया हुआ भात आसानी से खाया जा सकता है, उसी प्रकार बिना स्वामी की स्त्री यदि स्वयं अपने आश्रम में व घर में आ जाय तो वह आसानी से भोगी जा सकती है। इसलिए अकेली आर्यिका को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय में विहार और गमन आदि कभी नहीं करना चाहिए।

श्री मूलाचार की दृष्टि में अनियत विहार

अनियत विहार का तात्पर्य उस विहार या गमन से है जो अस्थायी (एक स्थान पर कितने दिन टिकेंगे इसका पता न होना), अनिश्चित (किस तरफ विहार होगा इसका होगा इसका तय न होना), असीम (ये आगे कहाँ तक जायेंगे उसकी सीमा का निर्धारण न होना), अनियन्त्रित (अपनी मर्जी से गमन होना उस पर किसी का नियन्त्रण न होना), तथा आकस्मिक (बिना किसी को बताये हुए अचानक विहार हो जाना) होता है। दिगम्बर मुनि का विहार उपर्युक्त सभी विशेषणों से अलंकृत होता है, जैसे पूज्य आ. विद्यासागर जी महाराज का जब फिरोजाबाद में चातुर्मास चल रहा था तब दीपावली के उपरान्त विभिन्न विषयों पर प्रवचन श्रंखला चल रही थी। अगले दिन प्रवचन 'अतिथि' विषय पर घोषित कर दिया गया था। अगले दिन प्रातः 7.00 बजे अचानक पूज्य आचार्य श्री ने विहार कर दिया। जब साधर्मी भाईयों को इसकी भनक लगी, तो फिरोजाबाद में सब तरफ अफरातफरी मच गई। सभी लोग पूज्य आर्चायश्री के पास दौड़ पड़े और निवेदन किया कि महाराज जी, आज का प्रवचन 'अतिथि' पर तो हो जाना चाहिए था, फिर विहार होना चाहिये था। पूज्य आचार्य श्री मुस्कराकर बोले मेरा यह अचानक विहार ही अतिथि पर प्रवचन है। ऐसे विहार को अनियत विहार कहा

जाता है। पूज्य आचार्य श्री विहार के समय चौराहे पर पहुँचकर भी मार्गों की जानकारी लेते हैं और किसी भी मार्ग पर विहार हो जाता है। इसे अनियत विहार कहा जाता है। अनियत विहार के सम्बन्ध में श्री मूलाचार में वसति शुद्धि एवं विहार शुद्धि के प्रकरणों के अन्तर्गत अच्छा प्रकाश डाला गया है। विहार शुद्धि के अन्तर्गत इस प्रकार कहा गया है :

मुत्ता णिराववेक्खा सच्छंदविहारणो जहा वादो।
हिंडंति णिरुव्विग्गा णयरायरमंडियं वसुहं।। 799।।

अर्थ : परिग्रह रहित निरपेक्ष स्वच्छन्द विहारी वायु के समान नगर और आकर से मण्डित पृथ्वीतल पर उद्विग्न न होते हुए भ्रमण करते हैं।। **आचारवृत्ति-** मुक्त-सर्वसंग से रहित, निरपेक्ष- किंचित् भी इच्छा न रखते हुए वायु के समान स्वतन्त्र हुए नगर और खान से मण्डित इस पृथ्वीमण्डल पर विहार करते हैं।

विहार करते हुए उनकी चर्या कैसी होती है, इस सम्बन्ध में कहा है

वसुधम्मि वि विहरंता पडिं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु।। 800।।

अर्थ वसुधा पर विहार करते हुए भी कदाचित् किसी को भी पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं। जीवों में दया भाव सहित हैं, जैसे कि पुत्र समूह में माता दया रखती है।

तणरुक्खहरिदछेदणतय पत्तपवाल कंदमूलाइं।
फलपुप्फबोयघादं ण करेंति मुणी ण कारेंति।। 803।।

अर्थ तृण, वृक्ष, हरित वनस्पति का छेदन तथा छाल, पत्ते, कोंपल, कन्द-मूल तथा फल, पुष्प और बीज इनका घात मुनि न स्वयं करते हैं और न कराते हैं।। 803।।

इस प्रकार विहार करते हुये उन मुनिराजों के परिणाम कैसे होते हैं, इसके लिए कहा है :

उवसंतादीणमणा उवक्खसीला हवंति मज्झत्था।
णिहुदा अलोलमसठा अविह्मिया कामभोगेसु।। 806।।

अर्थ - वे उपशान्त भावी (कषाय भाव से रहित), दैन्यवृत्ति से रहित उपेक्षा स्वभाव वाले (किसी से कोई अपेक्षा न रखने वाले), पंचेन्द्रिय विजयी, निर्लोभी (किसी से कुछ भी न चाहने वाले), मूर्खता रहित और कामभोगों में विस्मय रहित होते हैं।

ते णिम्ममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा।
सवणा अप्पडिबद्धा विज्जू जह दिट्ठणट्ठा वा।। 786।।

अर्थ वे शरीर से ममता रहित हुये मुनि आवास रहित होते हैं। जहाँ पर सूर्य अस्त हुआ वहीं ठहर जाते हैं, किसी से कुछ भी अपेक्षा नहीं करते हैं, तथा बंधे हुए नहीं रहते हैं अर्थात् स्वतन्त्र होते हैं। बिजली के समान दिखकर विलीन हो जाते हैं अर्थात् एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते हैं।

ये अनियत विहार वाले मुनि महाराज एक स्थान पर कितने समय तक ठहरते हैं, इस सम्बन्धमें इस प्रकार कहा है :

गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विक्तिएगंतवासी य।। 787।।

अर्थ ग्राम में एक रात्रि निवास करते हैं और नगर में पाँच दिन निवास करते हैं। प्रासुक विहारी हैं और विविक्त एकान्तवास करने वाले हैं, ऐसे श्रमण धीर होते हैं। **विशेषार्थ** ग्राम में एक रात्रि निवास करते हैं क्योंकि एक रात्रि में ही वहाँ का सर्व अनुभव आ जाता है। नगर में पाँच दिवस ठहरते हैं क्योंकि पॉच दिन में वहॉ के सर्व तीर्थ आदि यात्राओं की सिद्धि हो जाती है। आगे अधिक रहने से वहाँ के निवासियों अथवा वसतिका आदि से ममत्व की उत्पत्ति देखी जाती है।

जन्तुरहित स्थानों में विहार करने वाले होते हैं। स्त्री, पशु तथा नपुंसक आदि से रहित एकान्त एवं शान्त प्रदेश में निवास करने वाले होते हैं।

साधुओं का विहारकाल दो प्रकार का कहा गया है एक वर्षाकाल और दूसरा ऋतुकाल। अनगारधर्मामृत के अनुसार वर्षाकाल में चारों ओर हरियाली हो जाने से एवं पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीवों की बहु उत्पत्ति हो जाने के कारण प्राणी संयम का पालन कठिन हो जाता है। इसलिए वे मुनिराज वर्षाकाल में आषाढ़ सुदी चतुर्दशी से कार्तिक कृष्णा अमावस्या तक एक ही स्थान पर रुक जाते हैं। विशेष परिस्थितियों में कुछ अधिक समय तक भी रुक सकते हैं। दूसरा ऋतुकाल हैं जिसमें बसन्तादि छहों ऋतुओं में स्वाध्याय आदि के निमित्त गुरु आज्ञा पूर्वक एक ऋतु में एक माह तक, एक स्थान पर, रुकने का प्रावधान है।

ऐसे मुनिराजों के बारे में और भी कहा है :

वसधिसु अप्पडिबद्धा ण ते ममत्तिं करेंति वसधीसु।
सुण्णागारमसाणे वसंति ते वीरवसधीसु।। 790।।

अर्थ वसति से बंधे हुए नहीं होते हैं, अतः वे वसति में ममत्व नहीं करते हैं, वे शून्य स्थान श्मशान ऐसी वीर वसतिकाओं में निवास करते हैं।। 790।।

आचारवृत्ति-वसतिकाओं में जो प्रतिबद्ध नहीं होते, अर्थात् यह मेरा आश्रय स्थान है, यहीं पर मैं रहूँ इस प्रकार के अभिप्राय से रहित रहते हैं तथा वसतिकाओं में ममत्व नहीं करते हैं, अर्थात् निवास निमित्तक मोह से रहित होते हैं, वे साधु शून्य मकानों में, श्मशान भूमि प्रेतवनों में ठहरते हैं। वे वीर पुरुषों से अधिष्ठित महाभयंकर स्थानों में निवास करते हैं तथा सुन्दर एवं सुविधाजनक वसतिका में आसक्ति नहीं रखते हैं।

सीहा इव णरसीहा पव्वयतडकडयकंदरगुहासु।
जिणवयणनणुमणंता अणुविग्गमणा परिवसंति।। 794।।

अर्थ सिंह के समान नरसिंह महामुनि पर्वत के तट, कटक, (पर्वत के ऊर्ध्वभाग के समीप का स्थान), कन्दराओं और गुफाओं में जिनवचनों का अनुचिन्तन करते हुए उत्साह चित्त होकर निवास करते हैं।

सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुंवति ते पयामं तु।
सुत्तत्थं चिंतंता णिद्याय वसं ण गच्छंति।। 796।।

अर्थ स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर हुए वे मुनि प्रथम व अन्तिम पहर में रात्रि में नहीं सोते हैं। वे सूत्र और अर्थ का चिन्तवन करते हुए निद्रा के वश में नहीं होते हैं।। 796।।

उपर्युक्त प्रकार अनियत विहार करने वाले साधुओं के क्या गुण प्रकट होते हैं उसका वर्णन श्री भगवती आराधना में बहुत सुन्दर किया गया है, जो इस प्रकार है :

दंसणसोधी ठिदिकरण भावणा अदिसयत्तकुसलत्तं।
खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होंति।। 144।।

अर्थ दर्शनशुद्धि, स्थितिकरण, भावना, अतिशय अर्थों में निपुणता और क्षेत्र का अन्वेषण ये अनियत स्थान में बसने में गुण होते हैं।। 144।। श्री आचारसार में अधिकार 10 की गाथा 6 में भी इसी प्रकार वर्णन किया गया है।

भावार्थ - अनियत विहार करने वाले मुनियों में निम्न गुण प्रकट होते हैं :

1. दर्शन शुद्धि तीर्थकरों के जन्म स्थान, दीक्षा स्थान, केवलज्ञान की उत्पत्ति स्थान, मानस्तम्भ आदि एवं निषीधिका स्थान देखने वाले के सम्यग्दर्शन में निर्मलता होती है।

2. स्थितिकरण अनियत विहारी साधु सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और शुद्ध लेश्या में वर्तमान होता है, उसे देखकर अन्य सभी महामुनिराज संसार से अत्यन्त भीत होते हैं, वे मानते हैं कि ये

मुनिराज जैसे संसार से विरक्त हैं वैसे हम नहीं हैं, अतः वे भी प्रभावित होकर अपने आचार-तप और लेश्या को बढ़ाने में प्रयत्नशील हो जाते है। अनियत विहार से यह परोपकार होता है।

3. भावना अनेक देशों में विहार करने से चर्या में होने वाला कष्ट, भूख, प्यास, शीत तथा उष्ण का दुःख संक्लेश रहित भावपूर्वक सहना होता है। जो वसतिका प्राप्त होती है, उसमें भी ममत्व भाव नहीं रहता।

4. अतिशय अर्थों में निपुणता अनियत विहार होने से अनेक देशों के सम्बन्ध में तथा वहाँ पाये जाने वाले शास्त्रों के शब्दार्थ के विषय में कुशल हो जाता है। विभिन्न आचार्यों आदि के दर्शन से नवीन एवं प्राचीन शास्त्रों की उपलब्धि होती है, उनको जानना देखना होता है। अन्य उत्कृष्ट साधुओं की चर्या आदि देखकर अपने आचरण में प्रवीणता होती हे।

5. क्षेत्र अन्वेषण किस क्षेत्र में त्रस और हरितकाय की बहुलता है, प्रासुक विहार संभव नहीं है, कौन सा स्थान साधु के निवास के लिए उपयुक्त है अथवा अनुपयक्त है, कौन सा स्थान सल्लेखना के लिए श्रेष्ठ है आदि का अन्वेषण अनियत विहार का गुण है। यदि कोई साधु अपनी उत्कृष्ट सल्लेखना के लिए ऐसे स्थान का अन्वेषण करना चाहता है, जहाँ आचार्य के भक्तों का निवास हो, जहाँ का राजा क्रोधादि दोषों से रहित जिनधर्म से द्वेष न रखने वाला, क्षमाशील हो, जहाँ का मौसम भी न तो अत्यधिक उष्ण हो न शीत ही हो, तो उसके लिए अनियत विहार अत्यन्त आवश्यक है।

अनियत विहार के सम्बन्ध में केवल यह काफी नहीं है कि साधु का विहार अनिश्चित, अनियन्त्रित और आकस्मिक हो। इस सम्बन्ध में भगवती आराधना की निम्न गाथा भी अत्यन्त उपयोगी है।

वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे।
सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो।। 155।।

अर्थ वसतियों में और उपकरणों में, ग्राम में, नगर में, संघ में और श्रावकजन में 'सर्वत्र यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प से रहित साधु संक्षेप से अनियत विहारी होता है।

भावार्थ अनियत विहार वही माना जाता है जहाँ किसी वसतिका में वहाँ मौजूद तख्त, चौकी आदि उपकरणों में, ग्राम में, नगर में, संघ में तथा विभिन्न स्थानों पर रहने वाले स्त्री-पुरुषों में या उनकी व्यवस्थाओं में 'यह मेरा है', इस प्रकार का संकल्प न हो।

श्री अमितगति आचार्य विरचित योगसारप्राभृत में भी इस प्रकार कहा है :

उपधौ वसतौ संघे विहारे भोजने जने।
प्रतिबन्धं न बध्नाति निर्ममत्वमधिष्ठितः।। 14।।

अर्थ जो योगी ममत्व रहित हो गया है, वह उपाधि अर्थात् परिग्रह में, वसतिका अर्थात् आवास स्थान में, चतुर्विध संघ में, विहार में, भोजन में, उस स्थान के निवासियों में प्रतिबंध को नहीं बांधता अर्थात् किसी के भी साथ राग का कोई बन्धन नहीं बांधता है। योगी के लिए पर पदार्थों में ममत्व छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है तभी उसकी योग साधना ठीक प्रकार से हो सकेगी। अन्य वस्तुओं में ममकार और अहंकार, जिनलिंग धारण के लक्ष्य को बिगाड़ने वाला और संसार परिभ्रमण का कारण है।

साधु को किन स्थानों पर निवास करना चाहिए, इस सम्बन्ध में सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह के निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त उपयोगी हैं।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना व्रतशीलादिमण्डिताः।
जिनभक्ताः सदाचाराः गुरुसेवापरायणाः।। 8।।
नीतिमार्गरता जैना धनधान्यादिसंकुलाः।

रूपलावण्यभूषाढ्या नरा नार्यो विचक्षणाः।। 9।।
यस्यां वसन्ति पुण्येन सुभगाश्च शुभाशयाः।
धर्मार्जनपरा नित्यं दानपूजादितत्पराः।। 10।।

अर्थ जहाँ ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, व्रतशील आदि से सहित, जिनेन्द्र भगवान के भक्त, सदाचरण वाले, गुरु सेवा में तत्पर, नीतिमार्ग में लीन, जिनधर्म के पालक, धन-धान्यादि से परिपूर्ण, रूप लावण्य तथा भूषणों से युक्त, पुण्यशाली सुभग, शुभभाव वाले, नर-नारी निवास करते हैं, वह स्थान प्रशस्त कहा गया है। अप्रशस्त स्थान कैसा होता है उसके सम्बन्ध में लिखते हैं :

त्यज्यते धार्मिकैर्देशो निःसंयमनमस्कृतिः।
निर्विदग्धजनो घोर-म्लेच्छलोकसमाकुलः।। 14।।

अर्थ जहाँ संयम तथा विनय नहीं है, जहाँ अकुशल मूर्ख मनुष्य रहते हैं, और जो भयंकर म्लेच्छ लोगों से भरा हुआ है, ऐसा देश धर्मात्माओं के द्वारा छोड़ देना चाहिए।

यस्मिन् देशे न तीर्थानि न चैत्यानि न धार्मिकाः।
तस्मिन् देशे न गन्तव्यं स्वधर्मप्रतिपालकैः।। 2।।

अर्थ जिस देश में न तीर्थ हों, न प्रतिमाएं हों और न धर्म के पालने वाले लोग हों, अपने धर्म की रक्षा करने वालों को उस देश में नहीं जाना चाहिए।

उपर्युक्त श्री मूलाचार में कथित एकलविहार एवं अनियत विहार के परिप्रेक्ष्य में, वर्तमान अधिकांश साधुओं के आचरणों में आगम निष्ठता दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। जो साधु, गुरु आज्ञा से संघ से अलग दो या तीन होकर विहार कर रहे हैं। जिनकी चर्या आगम के अनुसार है जो दृढ़ चरित्री, आगम ज्ञानी, परीषहजयी आदि गुणों से विभूषित हैं, उनके विहार को आगम सम्मत माना जाना चाहिए। परन्तु जो अकेले विहार कर रहे हैं, एक आर्यिका के साथ विहार कर रहे हैं, स्वच्छन्द

विहार होने से मूलगुणों एवं चारित्र के पालन में शिथिलाचारी हैं उनके एकल विहार को आगम आज्ञा नहीं है। संघ के आचार्यों को एवं विद्वत् जनों को उस पर अवश्य रोक लगानी चाहिए। इसी प्रकार जिन आचार्यों, साधुओं, क्षुल्लकों आदि ने अनियत विहार का परित्याग करके एक स्थान पर अपना तीर्थ आदि निवास बनाकर रहना अथवा अधिकांश रहना प्रारम्भ कर दिया है, जिनकी आज्ञा बिना उन क्षेत्रों पर कुछ भी नहीं हो सकता, जो इन क्षेत्रों से जुड़ गये हैं अथवा जिनका विहार या आहार बहुत दिन पहले ही नियत हो जाते है। अखबारों में पूर्व ही जिसकी घोषणा हो जाती है, उनके विहार को अनियत विहार की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह भी महान् शिथिलाचार है। इस पर भी आगम के परिप्रेक्ष्य में यथाशीघ्र रोक लगानी चाहिए। यद्यपि पंचम काल के इस समय में जबकि साधुओं में शिथिलाचार दावानल के समान वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, उपर्युक्त आगम विरुद्ध चर्याओं का रुकना असम्भव सा प्रतीत होता है। फिर भी विज्ञ जनों को इस दिशा में विवेकपूर्ण कदम उठाना अत्यन्त आवश्यक है।

1/205, प्रोफेसर्स कालोनी,
हरिपर्वत आगरा

तत्वार्थसूत्र में गुणव्रत

डॉ० जयकुमार जैन

व्रत का स्वरूप

जैन परम्परा में व्रत शब्द की प्रवृत्तिपरक एवं निवृत्तिपरक परिभाषायें कही गई हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने व्रतसामान्य का लक्षण करते हुए कहा है 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरति र्व्रतम्।'[1] अर्थात् हिंसा, अस्तेय, चोरी, कुशील एवं परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है। यह व्रत की निवृत्तिपरक परिभाषा है। 'वृतु वर्तने' क्रिया से निष्पन्न होने के कारण मूलतः व्रत शब्द प्रवृत्तिपरक है। अतः स्पष्ट है शुभ कर्मों में प्रवृत्ति का नाम भी व्रत है। इसीकारण **पूज्यपाद** ने व्रत की प्रवृत्तिपरक एवं निवृत्तिपरक उभयविध परिभाषा की है **'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः। इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा।'**[2] अर्थात् प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। यह करणीय है, यह करणीय नही है इस प्रकार नियम लेने का नाम व्रत है। इसीलिए सागारधर्मामृतकार पं० आशाधर जी ने लिखा है कि

> **'संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः।**
> **निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मकणि।।'**[3]

अर्थात् किन्हीं पदार्थों के सेवन का अथवा हिंसादि अशुभ कर्मों का नियत या अनियत काल के लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। संकल्पपूर्वक पात्रदान आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना व्रत है। इस कथन में व्रत में पाप से निवृत्ति तथा शुभ में प्रवृत्ति दोनों स्वीकार की गई हैं।

व्रती के भेद

जैनाचार्य के परिपालक व्रती के दो भेद हैं अगारी और अनगारी।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह व्रतों का एकदेश पालन करने वाले अणुव्रती श्रावक को अगारी या गृहस्थ तथा पूर्णरूप से पालन करने वाले महाव्रती साधु को अनगारी कहा जाता है। सामान्यतः अगार का अर्थ घर होता है, परन्तु जैनाचार में यह परिग्रह का उपलक्षण है। फलतः परिग्रह का पूरी तरह से त्याग न करने वाले को अगारी कहते हैं तथा परिग्रह का पूर्णतया त्याग करने वाला अनगारी कहलाता है। यद्यपि अगारी के परिपूर्ण व्रत नहीं होते है, तथापि वह अव्रती गृहस्थों की अपेक्षा व्रतों का एकदेश पालन करता है। अतः उसे भी व्रती श्रावक कहा जाता है।

अणुव्रती श्रावक जीवनपर्यन्त के लिए त्रस एवं स्थावर हिंसा का त्याग नही कर पाता है, परन्तु वह संकल्पी त्रस हिंसा का त्यागकर यथासंभव स्थावर जीवों की हिंसा से भी बचता है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के कारण ऐसा असत्य संभाषण नही करता है, जो गृहविनाश या ग्रामविनाश आदि का कारण बन सकता हो। वह अदत्त परद्रव्य को ग्रहण नही करता है, स्वस्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को यथायोग्य जननी, भगिनी या सुता के समान समझता है तथा आवश्यकतानुसार धन-धान्य आदि का परिमाण कर संग्रहवृत्ति को नही अपनाता है।

गुणव्रत का स्वरूप

अणुव्रती श्रावक के पाँचों अणुव्रतों के परिपालन में गुणकारी दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों की व्यवस्था है। समन्तभद्राचार्य ने **'अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यायन्ति गुणव्रतान्यार्याः'**[4] कहकर गुणों को बढ़ाने के कारण इन्हें आर्यों के द्वारा गुणव्रत कहा जाना माना गया है। सागारधर्मामृत में तो स्पष्टतया कहा गया है कि ये तीन व्रत अणुव्रतों के उपकार करने वाले हैं, इसलिए गुणव्रत कहलाते हैं 'यदगुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत।'[5]

गुणव्रत के भेद

आचार्य समन्तभद्र देशव्रत को पृथक् गुणव्रत न मानकर उसके स्थान पर भोगोपभोगपरिमाणव्रत का समावेश करते हैं।[6] महापुराणकार जिनसेनाचार्य दिग्व्रत, देशव्रत एवं अनर्थदण्डव्रत को गुणव्रत के तीन भेद मानते हुए कुछ आचार्यों द्वारा भोगोपभोगपरिमाणव्रत को भी गुणव्रत माने जाने का उल्लेख करते हैं

'दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिःस्यादूगुणव्रतम्।
भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तदूगुणव्रतम्।।'[7]

दिग्व्रत का स्वरूप

आचार्य पूज्यपाद ने प्रथम गुणव्रत दिग्व्रत का स्वरूप बताते हुए लिखा है कि **'दिक्प्राच्यादिस्तत्र प्रसिद्धेरभिज्ञानैरवधिं कृत्वा नियमनं दिग्विरतिव्रतम्।'**[8] अर्थात् पूर्व आदि दिशाओं में प्रसिद्ध स्थानों की मर्यादा बाँधकर जीवनपर्यन्त का नियम लेना दिग्व्रत कहलाता है। इस व्रत में प्रसिद्ध नदी, ग्राम, नगर, पर्वत, जलाशय आदि तक के गमन का नियम लेकर व्रती श्रावक न उसके बाहर जाता है और न ही उसके बाहर लेन-देन करता है।

दिग्व्रत के पालन से गृहस्थ मर्यादा के बाहर किसी भी तरह की हिंसा की प्रवृत्ति से बच जाता है। इसलिए उस क्षेत्र की अपेक्षा वह सूक्ष्म पापों से भी बचकर महाव्रती सा हो जाता है। मर्यादा से बाहर व्यापार करने से प्रभूत लाभ होने पर भी व्यापार नहीं करता है, अतः लोभ की भी न्यूनता हो जाती है। आचार्य पूज्यपाद ने दिग्व्रत के इन दोनों प्रयोजन का उल्लेख करते हुए लिखा है

'ततो बहिस्त्रसस्थावरव्यपरोपणनिवृत्तेर्महाव्रतत्वमवसेयम्। तत्र लाभे सत्यपि परिणामस्य निवृत्तेर्लोभनिराशश्च कृतो भवति।'[9]

दिग्व्रत के अतिचार

तत्त्वार्थसूत्र में ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृति-अन्तराधान को दिग्व्रत के अतिचार कहा गया है।[10] अतिचार और अतिक्रम पर्यायवाची शब्द हैं। अतिचार का अभिप्राय है ग्रहण किये गये नियम में दोष का लगाना या किसी कारणवश नियम का अतिक्रमण हो जाना। **सामान्यतः अतिचार में अज्ञात रूप में हुए छोटे-छोटे दोष आते हैं तथा इनकी गुरु के समक्ष आलोचना करने पर या स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेने पर शोधन भी हो जाता है।**

परिमित मर्यादा से अधिक ऊँचाई वाले पर्वत आदि पर चढ़ना **ऊर्ध्वव्यतिक्रम,** मर्यादा से अधिक गहरे कुआ आदि में उतरना **अधोव्यतिक्रम,** तथा सुरंग आदि में मर्यादा से अधिक जाना **तिर्यक्व्यतिक्रम,** नामक अतिचार है। दिशाओं का जो परिमाण किया है, लोभवश उससे अधिक क्षेत्र में जाने की इच्छा करना **क्षेत्रवृद्धि** तथा की गई मर्यादा को भूल जाना **स्मृति-अन्तराधान** नामक अतिचार है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी समन्तभद्राचार्य ने इन्हीं पाँच अतिचारों का कथन किया है। उन्होने लिखा है

'ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते।।'[11]

इस सन्दर्भ में आचार्य अकलंकदेव ने क्षेत्रवृद्धि नामक अतिचार के प्रसंग में परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार से इसकी भिन्नता स्पष्ट करते हुए कहा है कि परिग्रहपरिमाणाणुव्रत क्षेत्र, वास्तु आदि विषयक है, जबकि यह दिशाविरमण से सम्बन्धित है। इस दिशा में लाभ होगा, अन्यत्र लाभ नहीं होगा, फिरभी मर्यादा से आगे गमन नही करना दिग्व्रत है। परिग्रह मानकर क्षेत्र वास्तु आदि की मर्यादा करना परिग्रहपरिमाणाणु व्रत है। अतः दोनो के अतिचार में अन्तर है।[12]

दिग्व्रत का प्रयोजन

दिग्व्रत का प्रयोजन बताते हुए आचार्य अकलंकदेव ने कहा है कि जो व्यक्ति पूर्ण स्वरूप से हिंसादि से निवृत्त होने में असमर्थ है, परन्तु उसके प्रति आदरशील है, वह श्रावक जीवननिर्वाह हो या न हो, अनेक प्रयोजन होने पर भी स्वीकृत क्षेत्र मर्यादा को नही लाँघता है। अतः हिंसानिवृत्ति होने से वह व्रती है। इसी कारण निरतिचार दिग्व्रती को मर्यादित क्षेत्र के बाहर की अपेक्षा अहिंसा महाव्रती माना गया है। **'हिंसादिसर्वसावद्यनिवृत्तिरिति महाव्रतत्वमवसेयम्'**[13] कहकर अकलंकदेव इसी भाव को अभिव्यक्त करते हैं।

देशव्रत का स्वरूप

जीवनपर्यन्त के लिए किये गये दिग्व्रत में और भी संकोच करके घड़ी, घण्टा, दिन, महीना, आदि तक तथा गृह, मोहल्ला आदि तक आना-जाना रखना देशव्रत है। इसमें भी उतने समय तक श्रावक महाव्रती के समान हो जाता है, क्योंकि श्रावक मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में पाप से सर्वथा निर्वृत्त हो जाता है। सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद ने देशव्रत के स्वरूप का कथन करते हुए स्पष्ट किया है कि **'ग्रामादीनामवधृतपरिमाणप्रदेशो देशः। ततो बहिर्निवृत्तिर्देशविरतिव्रतम्।'**[14] अर्थात् ग्राम आदि की निश्चित मर्यादा रूप प्रदेश देश कहलाता है। उससे बाहर जाने का त्याग कर देना देशविरति व्रत कहलाता है।

लाटीसंहिता में देशव्रत के विषयों का कथन करते हुए मर्यादित देश में गमन करने के त्याग के साथ भोजन करने का त्याग, मैथुन का त्याग तथा मौन धारण करने का समावेश किया गया है।[15] समन्तभद्राचार्य के अनुसार दिग्व्रत में प्रमाण किये हुए विशाल देश में काल के विभाग से प्रतिदिन त्याग करना सो अणुव्रतधारियों का देशावकाशिक व्रत है। तपोवृद्ध गणधरादिक देशावकाशिक क्षेत्र की सीमा घर, गली, ग्राम,

खेत, नदी, वन या योजना तक कहते हैं। गणधरादिक ज्ञानी पुरूष देशावकाशिक व्रत में काल की मर्यादा एक वर्ष, दो मास, छह मास, एक मास, चार मास, एक पक्ष और नक्षत्र तक कहते हैं।[16]

देशव्रत के अतिचार

तत्त्वार्थसूत्र में आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्‌गलक्षेप को देशव्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।[17] अन्य उत्तरवर्ती ग्रन्थों में देशव्रत या देशावकाशिक व्रत के ये ही पाँच अतिचार माने गये हैं। अपने संकल्पित देश में रहते हुए मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तु को किसी के द्वारा मगाना **आनयन,** किसी को मर्यादा के क्षेत्र से बाहर भेजकर काम करा लेना **प्रेष्य प्रयोग** है। मर्यादा के बाहर के पुरुषों को लक्ष्यकर खाँसी, ताली, चुटकी आदि के इशारे से समझाना **शब्दानुपात**, शरीर, मुख आदि की आकृति दिखाकर इशारा करना **रूपानुपात** तथा पत्थर, कंकण आदि फेंककर संकेत करना **पुद्‌गलक्षेप** नामक अतिचार है।

देशव्रत का प्रयोजन

समन्तभद्राचार्य ने देशव्रत का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहा है कि सीमाओं से परे स्थूल एवं सूक्ष्म रूप पापों का भलीभाँति त्याग हो जाने से देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी महाव्रत साधे जाते हैं।[18] इस कथन से सुस्पष्ट हैं कि श्रावक का देशव्रत महाव्रत का साधन हैं।

दिग्व्रत एवं देशव्रत में अन्तर

आचार्य अकलंकदेव ने दिग्विरतिः'सार्वकालिकीदेशविरतिर्यथाशक्तिः' कहकर कहा है कि दिग्व्रत यावज्जीवन होता है, जबकि देशव्रत यथाशक्ति नियतकाल के लिए होता है। यही दिग्व्रत और देशव्रत में अन्तर है।

अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप

आचार्य पूज्यपाद ने उपकार न होने पर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है, उसे अनर्थदण्ड कहा है[19] और उससे विरक्त होने का नाम अनर्थदण्डव्रत है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार दिशाओं की मर्यादा के अन्दर-अन्दर निष्प्रयोजन पाप के कारणों से विरक्त होने को अनर्थदण्डव्रत माना गया है।[20] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है कि जिससे अपना कुछ प्रयोजन तो सिद्ध होता नही है, केवल पाप का बन्ध होता है, उसे अनर्थदण्ड कहते हैं।[21] अनर्थदण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन पाप के त्याग का नाम अनर्थदण्डव्रत है।

संसारी प्राणी का सर्वथा निष्पाप या निरपराध हो पाना संभव नही है। अपने स्वार्थ, लोभ, लालसा आदि की पूर्ति के लिए अथवा मात्र अपने सन्तोष के लिए वह प्रतिक्षण पापपूर्ण कार्यों को करता रहता है। यद्यपि राजकीय कानूनों के तहत वह इन कार्यो से अपराधी नही माना जाता है तथापि धार्मिक दृष्टि से वह कदाचार का दोषी है। अतः श्रावक को गुणात्मक वृद्धि के निमित्त अनर्थदण्डव्रत नामक गुणव्रत का विधान किया गया है।

अनर्थदण्डव्रत के भेद

निष्प्रयोजन पाप पाँच कारणों से होता है। कभी यह आर्त्त एवं रौद्र ध्यान के कारण होता है, कभी पापपूर्ण कार्यो को करने के उपदेश के कारण होता है, कभी असावधानीवश आचरण के कारण होता है, कभी जीव हिंसा में कारण बनने वाली सामग्री को प्रदान करने से होता है तथा कभी यह पाप कामोत्तेजक कथाओं आदि के सुनने से होता है। इन्हीं को आधार बनाकर अनर्थदण्डव्रत के पाँच भेद किये गये हैं पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या।[22] अनर्थदण्डों की संख्या में कहीं-कहीं अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। आचार्य

अमृतचन्द्र ने उक्त पाँच अनर्थदण्डों में **द्यूतक्रीडा** को जोड़कर छह अनर्थदण्डों का वर्णन किया है,[23] जबकि श्वेताम्बर परम्परा दुःश्रुति को पृथक् अनर्थदण्ड के रूप में उल्लिखित न करके इसका अन्तर्भाव अपध्यान (आर्त्त-रौद्रध्यान) में करती प्रतीत होती है।[24]

निष्प्रयोजन पाप का उपदेश देना **पापोपदेश अनर्थदण्ड** है। इसके अन्तर्गत प्राणीपीडक, युद्धप्रोत्साहक, ढगाई करने वाले, स्त्री-पुरूष का समागम कराने वाले उपदेश सामिल हैं।[25] सागारधर्मामृत में उन समस्त वचनों को पापोपदेश अनर्थदण्ड कहा गया है, जो हिंसा, झूठ आदि से सम्बद्ध हों। उनका कहना है कि व्याघ, ढग, चोर आदि को उपदेश नही देना चाहिए और न ही गोष्ठी में इस प्रकार की चर्चा करना चाहिए। आचार्य पूज्यपाद के अनसार विष, कांटा, शस्त्र, अग्नि, आयुध सींग, सांकल आदि हिंसा के उपकरणों का दान **हिंसादान** नामक अनर्थदण्ड है।[27] अन्य आचार्यों ने भी इसे ही हिंसादान माना है। गृहस्थी के लिए कभी-कभी आग, मूसल, ओखली आदि को अन्य से लेना पड़ता है। अतः पं० आशाधर जी ने इनकी छूट दी है। परन्तु अनजान व्यक्ति को अग्नि आदि देने का निषेध किया है। क्योंकि वह इनका उपयोग गृहदाह आदि में कर सकता है। यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में हिंसक पशुओं के पालन को भी इस अनर्थदण्ड में सम्मिलित किया गया है। आर्त एवं रौद्र खोटे ध्यान की **अपध्यान** संज्ञा है। पीडा या कष्ट के समय आर्त्तध्यान तथा वैरिघात आदि के समय रौद्रध्यान होता है। इनका ध्यान नहीं करना चाहिए। यदि प्रसंगवश इनका ध्यान हो जाये तो तत्काल दूर करने का प्रयास करना चाहिए। समन्तभद्राचार्य के अनुसार राग-द्वेष से अन्य की स्त्री आदि के नाश होने, कैद होने, कट जाने आदि के चिन्तन को अपध्यान नामक अनर्थदण्ड कहा गया है।[28] सर्वार्थसिद्धि में दूसरों की हार-जीत, मारण, ताडन, अंग छेदन आदि के विचार को अपध्यान कहा गया है।[29] दुःश्रुति को अशुभश्रुति भी कहा गया है। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि

हिंसा और राग को बढाने वाली दूषित कथाओं का सुनना और उनकी शिक्षा देना **अशुभश्रुति** अनर्थदण्ड है।[30] पं० आशाधर के अनुसार जिन शास्त्रों में काम, हिंसा आदि का वर्णन है, उनके सुनने से हृदय राग-द्वेष से फलुषित हो जाता है। अतः ऐसे शास्त्रों के श्रवण को दुःश्रुति कहते हैं।[31] प्रमादचर्या को प्रमादाचरित नाम से उल्लिखित करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने विना प्रयोजन वृक्षादि के छेदने, भूमि को कूटने, पानी को सींचने आदि पाप कार्यों को **प्रमादाचरित** अनर्थदण्ड कहा है।[32] अन्य आचार्यों का भी यही दृष्टिकोण है।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

अनर्थदण्डव्रत के पॉच आतिचार हैं कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य।[33] हास्ययुक्त अशिष्ट वचनों के प्रयोग को **कन्दर्प**, शारीरिक कुचेष्टायुक्त अशिष्ट वचनों के प्रयोग को **कौत्कुच्य**, निष्प्रयोजन बकवाद को **मौखर्य**, निष्प्रयोजन तोड़फोड़ या अधिक कार्य करने को **असमीक्ष्याधिकरण** तथा निषप्रयोजन भोगसामग्री के संचय को **उपभोगपरिभोगानर्थक्य** कहते हैं।

पं० आशाधर जी ने कन्दर्प एवं कौत्कुच्य को प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्डव्रत का, मौखर्य को पापोपदेश नामक अनर्थदण्डव्रत का, असमीक्ष्याधिकरण को हिंसादान नामक अनर्थदण्डव्रत का तथा उपभोगपरिभोगानर्थक्य को भी प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्डव्रत का अतिचार माना है।[34] ऐसा प्रतीत होता है कि अपध्यान एवं दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डव्रतों का कोई अतिचार इन पाँच अतिचारों में सम्मिलित नही है। इस पर विचार अपेक्षित है।

अनर्थदण्डव्रत का प्रयोजन एवं महत्त्व

अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि जो व्यक्ति अनर्थदण्डों को जानकर

उनका त्याग कर देता है, वह निर्दोष अहिंसा व्रत का पालन करता है।[35] तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि पूर्वकथित दिग्व्रत, देशव्रत तथा उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत में व्रती ने जी मर्यादा ली है, उसमें भी वह निष्प्रयोजन गमन आदि न करे एवं विषयसेवन आदि न करे, इसी कारण मध्य में अनर्थदण्डव्रत का ग्रहण किया गया है।[36]

यतः अनर्थदण्डव्रत श्रावक की निष्प्रयोजन पापपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग कराके व्रतों को निर्दोष पालने में सहकारी है तथा ये व्रतों में वृद्धि करते है, अतः अनर्थदण्ड के त्याग रूप इस गुणव्रत का श्रावक के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनर्थदण्डव्रतों के पालन से व्यर्थ के पापबन्ध से बचा जा सकता है। पर्यावरण प्रदूषण आज विश्व की भीषणतम समस्या बन गई है। पृथिवी की निरन्तर खुदाई, जल का प्रदूषण, अग्नि का अनियन्त्रित प्रयोग, वायु को प्रदूषित किया जाना, रासायनिक खादों एवं कीटनाशकों से दूषित अन्न एवं वनस्पतियों के प्रयोग ने आज पर्यावरण को अत्यन्त प्रदूषित कर दिया है। यदि विश्व के आधिकांश मानव प्रमादचर्या न करें, निष्प्रयोजन भूमि को न खोदें, आवश्यकता से अधिक जलस्रोतों का उपयोग न करें तथा जलाशयों एवं नदियों के पानी को कारखानों के विषैले दूषित जल से बचावें, कोयला, मिट्टी का तैल, डीजल, पेट्रोल, लकड़ी के जलाने आदि को सीमित करलें, विभिन्न गैसों से वायु प्रदूषित न होने दें और व्यर्थ में पेड़-पौधों को न काटें तो सहज ही पर्यावरण प्रदूषण की भयावह समस्या से बचा जा सकता है। अनर्थदण्डव्रतों का निर्दोष परिपालन लौकिक दृष्टि से भी पर्यावरण समस्या को निराकृत करने में पूर्णतया समर्थ है।

सन्दर्भ :

1. तत्त्वार्थसूत्र, 7/1.
2. सर्वार्थसिद्धि, 7/1.
3. सागारधर्मामृत, 2/80.
4. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 67.

5. सागारधर्मामृत, 5/1.
6. रत्नकरणश्रावकाचार, 67.
7. महामुराण (आदिपुराण), 10/165.
8. सर्वार्थसिद्धि, 7/1.
9. वही
10. तत्त्वार्थसूत्र 7/30.
11. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 73.
12. तत्त्वार्थवार्तिक, 7/30.
13. वही, 7/21.
14. सर्वार्थसिद्धि, 7/21.
15. लाटीसंहिता, 6/123.
16. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 92-94.
17. तत्त्वापर्थसूत्र, 7/31.
18. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 95
19. सर्वार्थसिद्धि , 7/21.
20. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 74.
21. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 343.
22. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 75
23. पुरुषर्थसिद्ध्युपाय, 141-146
24. यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, आजनो जैन गृहस्थ धर्म
25. द्र०- रत्नकरण्डश्रावकाचार, 76, चारित्रसार 16/4, पुरूषार्थसिद्ध्युपाय 142,
26. सागारधर्मामृत 5/7.
27. सर्वार्थसिद्धि, 7/21.
28. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 78.
29. सर्वार्थसिद्धि, 7/21.
30. वही
31. सागारधर्मामृत, 5/9.
32. सर्वार्थसिद्धि, 7/21.
33. तत्त्वार्थसूत्र, 7/32.
34. सागारधर्मामृत, 5/12.
35. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 147.
36. तत्त्वार्थवार्तिक, 7/21.

--उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग एस० डी० कालेज, मुजफ्फरनगर

श्रावकाचार और रात्रि भोजन विरमण व्रत

डॉ. अशोक कुमार जैन

'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र ही धर्म है और वह चारित्र मुनि श्रावक के भेदसे दो प्रकार का है। जो यह जानते हुए भी कि सांसारिक विषय-भोग हेय हैं, मोहवश उन्हें छोड़ने में असमर्थ होता है वह गृह में रहकर श्रावकाचार का पालन करता है। श्रावकाचार का मतलब होता है जैन गृहस्थ का धर्म। जैन गृहस्थ को श्रावक कहते हैं। इसका प्राकृत रूप 'सावग' होता है। जैन श्रावक के लिए उपासक शब्द भी व्यवहृत होता है। प्राचीन आगमों मे से जिस आगम में श्रावक धर्म का वर्णन था उसका नाम ही उपासकाध्ययन था। गृहस्थ को संस्कृत में 'सागार' कहते हैं। 'अगार' कहते हैं गृह को उसमें जो रहे सो सागार है अतः धर्म को सागार धर्म भी कहते हैं। श्रावक शब्द के अर्थ का प्रतिपादन करते हुए लिखा है

संपत्तंदंसणाई पइदियहं जइजणा सुणेई य।
सामायारि परमं जो खलु तं सावगं विन्ति।।

श्रावक प्रज्ञप्ति 2

जो सम्यग्दर्शन आदि को प्रात करके प्रतिदिन मुनि जन से उत्कृष्ट सामाचारी को सुनता है उसे श्रावक कहते हैं।

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पंचगुरुपदशरण्यः।
दानयजनप्रधाना ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्।।

सागारधर्मामृत 10/15

जो मूलगुण और उत्तर गुण में निष्ठा रखता है, अर्हन्त आादि पांच गुरुओं के चरणों को ही अपना शरण मानता है, दान और पूजा जिसके प्रधान कार्य हैं तथा ज्ञान रूपी अमृत को पीने का इच्छुक है वह श्रावक है।

उपर्युक्त श्लोक के विशेषार्थ में लिखा है जो गुरु आदि से धर्म सुनता

है वह श्रावक है अर्थात् एकदेश संयम के धारी को श्रावक कहते हैं। श्रावक के आठ मूलगुण और बारह उत्तरगुण होते हैं। उत्तरगुणों के प्रकट होने में निमित्त होने से तथा संयम के अभिलाषियों के द्वारा पहले पाले जाने के कारण मुलगुण कहे जाते हैं और मूलगुणों के बाद सेवनीय होने से तथा उत्कृष्ट होने से उत्तरगुण कहलाते हैं। संयम के भेदों में प्रथम पाले जाते हैं वे मूलगुण हैं। मूलगुण में परिपक्व होने पर ही उत्तर गुण धारण किये जाते हैं। किसी लौकिक फल की अपेक्षा न करके निराकुलतापूर्वक धारण करने का नाम निष्ठा रखना है तथा अर्हन्त आदि पंच परमेष्ठी के चरण ही उसके शरण्य होते हैं अर्थात् उसकी यह अटल श्रद्धा होती है कि मेरी सब प्रकार की पीड़ा पंचपरमेष्ठी के चरणों के प्रसाद से दूर हो सकती है अतः वे ही मेरे आत्मसमर्पण के योग्य हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शनपूर्वक देश-संयम को धारण करने वाले श्रावक का कर्त्तव्य आचार है। चार प्रकार का दान और पांच प्रकार की जिनपूजा कही है। यद्यपि श्रावक का कर्त्तव्य आजीविका भी है किन्तु वह तो गौण है। श्रावक धर्म की दृष्टि से प्रधान आचार दान और पूजा है। श्रावक धर्म की दृष्टि से प्रधान आचार दान और पूजा है यह बतलाने के लिए प्रधान पद रखा है तथा ज्ञानामृत का पान करने के लिए वह सदा अभिलाषी रहता है। यह ज्ञानामृत है स्व और पर का भेद ज्ञान रूपी अमृत। उसी से उसकी ज्ञान-पिपासा शान्त होती है।

श्रावकों के भेद

श्रावकों के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये 12 व्रत तथा ग्यारह प्रतिमायें प्राचीनकाल से ही निर्धारित हैं। सागारधर्मामृत में श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये ती भेद करके ग्यारह भेदों को नैष्ठिक श्रावक का भेद बतलाया है। जिसको जैनधर्म का पक्ष होता है वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। पाक्षिक को श्रावक धर्म का प्रारम्भ कहना चाहिए। जो उसमें अभ्यस्त हो जाता है वह नैष्ठिक है, यह मध्यम अवस्था है और जो आत्मध्यान में तत्पर

होकर समाधिमरण का साधन करता है, वह साधक है यह परिपूर्ण अवस्था है।

रात्रिभोजनविरति विमर्श

जैनाचार में अहिंसा के परिपालन में रात्रि भोजन त्याग पर भी विचार किया गया है। मुनि और श्रावक दोनों के लिए रात्रि भोजन वर्जित माना है। मूलाचार में "तेसि चेव वदाणां रक्खंट्ठं रादि भोयण विरत्ती" लिखकर यह स्पष्ट किया है कि पांच व्रतों की रक्षा के निमित्त 'रात्रिभोजन विरमण' का पालन किया जाना चाहिए। सूत्रकृतांग के वैतालीय अध्ययन में लिखा है

अग्गं वणिएहि आहियं, धारंती रायाणया इहं।
एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा।। 3/57

आर्थात् व्यापारियों द्वारा लाए गए श्रेष्ठ (रत्न, आभूषण आदि) को राजा लोग धारण करते हैं, वैसे ही रात्रि-भोजन विरमण सहित पांच महाव्रत परम बताये गये हैं उन्हें संयमी मनुष्य धारण करते हैं।

इसी आगम के महावीर स्तुति अध्ययन में लिखा है

से वारिया इत्थि सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता अपरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारी।।

दुःखों को क्षीण करने के लिए तपस्वी ज्ञातपुत्र ने स्त्री, भोजन का वर्जन किया। साधारण और विशिष्ट दोनों प्रकार के लोगों को जानकर सर्ववर्जी प्रभु ने सब (स्त्री, रात्रि-भोजन, प्राणातिपात आदि सभी दोषों) का वर्जन किया।

इसी गाथा के पाद टिप्पण में लिखा है कि चूर्णिकार और वृत्तिकार ने माना है कि भगवान ने स्वयं पहले मैथुन तथा रात्रि भोजन का परिहार किया और फिर उसका उपदेश दिया। जो व्यक्ति स्वयं धर्म में स्थित नहीं है, वह दूसरों को धर्म में स्थापित नहीं कर सकता।

आचारांग सूत्र के नौवें अध्ययन में भगवान् महावीर की गृहस्थचर्या और मुनिचर्या दोनों का वर्णन है। चूर्णि की व्याख्या में यह स्पष्ट निर्देश है कि भगवान् विरक्त अवस्था में अप्रासुक आहार, रात्रि भोजन और अब्रह्मचर्य के सेवन का वर्जन कर अपनी चर्या चलाते थे।

इसकी व्याख्या दूसरे नय से भी की जा सकती है। भगवान् महावीर से पूर्व भगवान पार्श्व चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे। उसमें स्त्री-त्याग या ब्रह्मचर्य तथा रात्रि-भोजन विरति इन दोनों का स्वतंत्र स्थान नहीं था। भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत धर्म का प्रतिपादन किया। उसके साथ छट्ठे रात्रि भोजन-विरति व्रत को जोड़ा। ये दोनों भगवान महावीर द्वारा दिए गए आचार शास्त्रीय विकास है।

दशवैकालिक सूत्र में इसे छठवां व्रत माना गयाा है। वहां लिखा है

अहावरे छट्ठे भंते! वए राईभोयणाओ वेरमणं। सव्वं भंते रईभोयणं पच्चक्खामि सअसण वा पाणं वा खाइयं वा साइयं वा, नेव सयं राइं भजेज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजाषेज्जा राइं भुंजंते विअन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंते पिअन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

भंते! इसके पश्चात् छठे व्रत में रात्रि भोजन की विरति होती है।

भंते! मैं सब प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य किसी भी वस्तु को रात्रि में मैं स्वयं नहीं खाऊंगा, दूसरों को नहीं खिलाऊंगा और खाने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से- मन से, वचन से न करूंगा, न कराऊंगा, और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

भंते मैं अतीत के रात्रि भोजन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

छट्ठे भंते! बए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभेयणाओ वेरमणं भंते मै छठे व्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व रात्रि-भोजन की विरति होती है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र ने छठी प्रतिमा का नाम-रात्रिभुक्तिविरत रखा है और लिखा है

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः।।

अर्थात् जो प्राणियों पर दया करके रात्रि में चारों प्रकार के भोजन का त्याग करता है उसे रात्रिभुक्तिविरत कहते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी छठी प्रतिमा का यही स्वरूप दिया है और लिखा है

जो णिसिभुत्तिं वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मासं।
संवच्छरस्य मज्झे आरंभचयदि रयणीए।। 82

जो पुरुष रात्रि-भोजन का त्याग करता है, वह एक वर्ष में छह मास उपवास करता है क्योंकि वह रात्रि में आरम्भ का त्याग करता है।

आचार्य अमितगति ने लिखा है जिस रात्रि में राक्षस, भूत और पिशाचों का संचार होता है, जिसमें सूक्ष्म जन्तुओं का समूह दिखाई नहीं देता है, जिसमें स्पष्ट न दिखने से त्यागी हुई भी वस्तु खा ली जाती है, जिसमें घोर अंधकार फैलता है, जिसमें साधु वर्ग का संगम नहीं है, जिसमें देव और गुरु की पूजा नहीं की जाती है, जिसमें खाया गया भोजन संयम का विनाशक है, जिसमें जीते जीवों के भी खाने की संभावना है, जिसमें सभी शुभ कार्यों का अभाव होता है, जिसमें संयमी पुरुष गमनागमन क्रिया भी नहीं करते हैं, ऐसे महादोषों के आलयभूत, दिन के अभाव स्वरूप रात्रि के समय धर्म कार्यों में कुशल पुरुष भोजन नहीं करते हैं। खाने की गृद्धता के दोषवशवर्ती जो दुष्टचित्त पुरुष रात्रि में खाते हैं, वे लोग भूत, राक्षस, पिशाच और शाकिनी डाकिनियों की संगति कैसे छोड़ सकते हैं ? अर्थात् रात्रि में राक्षस पिशाचादिक ही खाते हैं अतः रात्रि भोजियों को उन्हीं की संगति का जानना चाहिए। जो मनुष्य यम-नियमादि

की क्रियाओं को छोड़कर रात्रि-दिन सदा ही खाया करता है, उसे ज्ञानी पुरुष सींग, पूंछ और खुर के संग से रहित पशु कहते हैं। बुद्धिमान लोग तो दिन में भोजन, रात्रि में शयन, ज्ञानियों के मध्य में अवसर पर संभाषण और गुरुजनों में किया गया पूजन शांति के लिए मानते हैं।

वसुनन्दि श्रावकाचार में रात्रि भोजन के दोषों का वर्णन करते हुए लिखा है   रात्रि को भोजन करने वाले मनुष्य के ग्यारह प्रतिमाओं में से पहली भी प्रतिमा नहीं ठहरती है, इसलिए नियम से रात्रि भोजन का परिहार करना चाहिए। भोजन के मध्य गिरा हुआ चर्म, अस्थि, कीट पंतग सर्प और केश आदि रात्रि के समय कुछ भी नहीं दिखाई देता है है और इसलिए रात्रिभोजी पुरुष सबको खा लेता है। यदि दीपक जलाया जाता है, तो भी पतंगे आदि अगणित चतुरिन्द्रिय जीव दृष्टिराग से मोहित होकर भोजन के मध्य गिरते हैं। इस प्रकार के कीट-पतंग युक्त आहार को खाने वाला पुरुष इस लोक में अपनी आत्मा का या अपने आप का नाश करता है और परभव में चतुर्गति रूप संसार के दुःखों को पाता है।

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में लिखा है जिन पुरुषों ने अहिंसाणुव्रत धारण किया है उन्हें उस व्रत की रक्षा के लिए और व्रत को दिनों दिन विशुद्ध (निर्मल) करने के लिए रात्रि में चार प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। जो पुरुष दो घटिका दिन के पहले भोजन करते हैं वे रात्रि भोजन त्याग व्रत के धारक कहे जाते हैं इसके बाद जो भोजन करते हैं वे अधम हैं।

रात्रि भोजन से शरीर सम्बन्धी हानियां भी होती हैं। रात्रि में भोजन करते समय मक्खी यदि खाने में आ जाये तो उससे वमन होता है। यदि केश (बाल) खाने में आ जाये तो उससे स्वरभंग होता है। यदि यूक (जूवां) खाने में आ जाए तो जलोदर आदि रोग उत्पन्न होते हैं और यदि छिपकली खाने में आ जाय तो उससे कोढ आदि उत्पन्न होती है। इसलिए बुद्धिमान पुरुषों को रात्रि-भोजन का त्याग करना चाहिए। जो

पुरुष रात्रि भोजन के समान दिन के आदि मुहूर्त्त तथा अंतिम मुहूर्त्त को छोड़कर भोजन करता है वह इस प्रकार आधे जन्म को उपवास से व्यतीत करता है।

आचार्य सोमदेवसूरि ने लिखा है

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम्।।

उपासकाध्ययन 325

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए और मूलव्रतों को विशुद्ध रखने के लिए इस लोक और परलोक में दुःख देने वाले रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

लाटीसंहिता के कर्त्ता निकृष्ट श्रावक को भी व्रत के रूप में न सही तो कुलाचार के रूप में ही रात्रि भोजन न करना आवश्यक बतलाकर रात्रि भोजन की बुराइयां बतलाते हैं। वे लिखते है यह सब जानते हैं कि रात्रि में दीपक के निकट पतंग आते ही हैं और वे हवा के वेग से मर जाते है। अतः उनके कलेवर जिस भोजन में पड़ जाते हैं वह भोजन निरामिष कैसे रहा तथा रात्रि में भोजन करने से युक्त अयुक्त का विचार नहीं रहता। अरे जहां मक्खी नहीं दिखाई देती वहां मच्छरों का तो कहना ही क्या ? अतः संयम की वृद्धि के लिए रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। यदि उतनी सामर्थ्य न हो तो अन्न वगैरह का त्याग करना चाहिए।

तत्त्वार्थवार्तिक में लिखा है जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में स्फुट रूप से पदार्थ दिख जाते हैं तथा भूमिदेश, दाता का गमन, अन्न-पानादि गिरे हुए या रखे हुए स्पष्ट दिखाई देते हैं, उस प्रकार चन्द्र आदि के प्रकाश में नहीं दिखते अर्थात् रात्रि में चन्द्रमा और दीपक का प्रकाश होते हुए भी भूमिदेश में स्थित पदार्थ स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होते इसलिए दिन में ही भोजन करना चाहिए।

सूर्य प्रकाश और आधुनिक विज्ञान

जब सूर्य प्रकाश की किरण किसी शीसे से गुजरती है तो उसमें सात रंग दिखाई पड़ते हैं जो वायलेट नीला, बैंगनी, हरा, पीला, नारंगी, और लाल होते हैं। ये रंग सूर्य प्रकाश के आंतरिक अंश रूप (Component parts) है और स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद हैं। जीवन शक्ति प्रदायक प्राणतत्त्व का वे सर्जन करते हैं। वैज्ञानिक बताते हैं कि इसके अतिरिक्त सूर्य प्रकाश में Infra-red-ultraviolet की किरणें भी होती हैं। आल्ट्रावायलेट किरणें एक्सरे की तरह पुद्गल के भीतर तक घुसकर कीटाणुओं को नष्ट करने में समर्थ होती है। यह किरणें रात में नहीं मिलती इसी कारण रात में कीडे-मकोड़े आदि अधिक संख्या में निकलते हैं, इस प्रकार विज्ञान से भी यह सिद्ध है कि दिन का भोजन करना स्वास्थ्यवर्द्धक है और उसमें हिंसा भी कम है। इसके विपरीत रात्रि भोजन स्वास्थ्य घातक है और उसमें हिंसा भी अधिक होती है।

स्वास्थ्य और रात्रि भोजन विरमण व्रत

स्वामी शिवानन्द ने अपनी Health and diet नामक पुस्तक के पृष्ठ 260 पर लिखा है- The Evening meal should be light and eaten very early, if possible take milk and fruits only before 7p.m. no solid or liquid should be taken after sunset.

अर्थात् सायंकाल का भोजन हलका और जल्दी कर लेना चाहिए। आवश्यकता ही हो तो सायंकाल सात बजने से पहले-पहले केवल फल और दूध लिये जा सकते हैं। सूर्यास्त हो जाने के बाद ठोस या तरल पदार्थ कभी नहीं लेना चाहिए।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने लिखा है स्वास्थ्य संतुलन में आहार की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। दिन का पहला भाग कफ प्रधान होता है। मध्यान्ह का भाग पित्त प्रधान होता है और सायंकाल का भाग वात प्रधान होता है। यदि

शाम को खरबूजा खायें या उस जैसी दूसरी चीजें खायें तो बीमार ही पड़ेगे। इसलिए भोजन के साथ हित का विवेक भी होना चाहिए।

रात्रि के समय हृदय और नाभिकमल संकुचित हो जाने से भुक्त पदार्थ का पाचन भी गड़बड़ हो जाता है। भोजन करके सो जाने पर वह कमल और भी संकुचित हो जाता है। भोजन करके निद्रा लेने से पाचन शक्ति घट जाती है और रात को सोना अनिवार्य है अतः रात को भोजन करना स्वास्थ्य के लिए बड़ा घातक है।

सागारधर्मामृत में लिखा है

भुंजतेऽह्नः सकृद्वर्या द्विर्मध्याः पशुवत्परे।

उत्तम पुरुष दिन में एक बार, मध्यम पुरुष दो बार और सर्वज्ञ के द्वारा कहे गये रात्रि भोजन त्याग के गुणों को न जानने वाले जघन्य पुरुष पशुओं की तरह रात-दिन खाते हैं अर्थात् जो दिन में केवल एक बार भोजन करते है, वे उत्तम हैं, जो दो बार भोजन करते हैं वे मध्यम हैं और जो रात-दिन खातें हैं वे पशु के तुल्य हैं।

मुनिश्री महेन्द्र कुमार जी ने अपनी पुस्तक 'जैनदर्शन और विज्ञान' पृष्ठ 155 में लिखा है कि रात्रि भोजन न करना धर्म से संबंधित तो है ही क्योंकि यह धर्म के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। इसके साथ इस निषेध का एक वैज्ञानिक कारण भी है। हम जो भोजन करते हैं, उनका पाचन होता है तैजस शरीर के द्वारा। उसको अपना काम करने कमे लिए सूर्य का आतप आवश्यक होता है। जब शरीर को प्रकाश नहीं मिलता तब वह निष्क्रिय हो जाता है, पाचन कमजोर हो जाता है। इसलिए रात को खाने वाला अपच की बीमारी से बच नहीं पाता।

जब सूर्य का आतप होता है तब कीटाणु बहुत सक्रिय नहीं होते। बीमारी जितनी रात में सताती है उतनी दिन में नहीं सताती। उदाहरणार्थ वायु का प्रकोप रात में अधिक होता है। ये सारी बीमारियाँ रात में इसलिए सताती हैं क्योंकि रात में सूर्य का प्रकाश

और ताप नहीं होता। जब सूर्य का प्रकाश होता है, तब बीमारियां उग्र नहीं होती। **आचार्य रविषेण** ने तो लिखा है

मांस मद्यं निशाभुक्ति स्तेयमन्यस्य योषितम्।
सेवते यो जनस्तेन भवे जन्मद्वयं हतम्।।पद्मचरित 277

जो मनुष्य मांस, मद्य, रात्रिभोजन, चोरी और परस्त्री का सेवन करता है वह अपने इस जन्म और परजन्म को नष्ट करता है।

जैनेतर ग्रंथों में रात्रि भोजन विरति के संदर्भ

महाभारत में नरक के चार द्वारों में रात्रि भोजन को प्रथम द्वार बताते हुए युधिष्ठिर से रात्रि में जल भी न पीने की बात कहते हुए कहा गया है

नरकद्वाराणि चत्वारि प्रथमं रात्रिभोजनम्।
परस्त्रीगमनं चैव सन्धानान्तकायिके।।
ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते।।
नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिर।
तपस्विनां विशेषेण गृहिणां च विवेकिना।।

महाभारत

अर्थात् रात्रि भोजन करना, परस्त्री गमन करना, अचार, मुरब्बा आदि का सेवन करना तथा कंदमूल आदि अनंतकाय पदार्थ खाना ये चार नरक के द्वार हैं। उनमें पहला रात्रि भोजन करना है। जो रात्रि में सदा सब प्रकार के आहार का त्याग कर देते हैं उन्हें एक माह में एक पक्ष के उपवास का फल मिलता है। हे युधिष्ठिर! रात्रि में तो जल भी नहीं पीना चाहिए, विशेषकर तपस्वियों को एवं ज्ञान सम्पन्न गृहस्थ को तो रात्रि में जल भी नहीं पानी चाहिए। जो लोग मद्य और मांस का सेवन करते हैं, रात्रि में भोजन करते हैं तथा कंदमूल खाते हैं उनके द्वारा की गयी तीर्थयात्रा तथा जप और तप सब व्यर्थ हैं।

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्द भक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः।।

पद्मपुराण

गरुड़ पुराण में रात्रि के अन्न को मांस तथा जल को खून की तरह कहा गया है

अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेयमहर्षिणा।।

अर्थात् दिवानाथ यानी सूर्य के अस्त हो जाने पर मार्कण्डेय महर्षि ने जल को खून तथा अन्न को मांस की तरह कहा है। अतः रात्रि का भोजन त्याग करना चाहिए।

सनातन धर्म में भी रात्रि में शुभ कर्म करने का निषेध है। कहा है समस्त वेदज्ञाता जानते हैं कि सूर्य प्रकाशमय हैं। उसकी किरणों से समस्त जगत् के पवित्र होने पर ही समस्त शुभ कर्म करना चाहिए। रात्रि में न आहुति होती है, न स्नान, न श्राद्ध, न देवार्चन और न दान। ये सब अविहित हैं और भोजन विशेष रूप से वर्जित है। दिन के आठवें भाग में सूर्य का तेज मंद हो जाता है। उसी को रात्रि जानना। रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए। देव पूर्वाह्न में, ऋषि मध्याह्न में और पितृगण अपराह्न में भोजन करते हैं। दैत्य-दानव सांयाह्न में भोजन करते हैं। यक्ष-राक्षस सदा संध्या में भोजन करते हैं। इन सब बेलाओं को लांघकर रात्रि में भोजन करना अनुचित है।

वर्तमान में विवाह आदि अवसरों पर यहां तक कि धार्मिक कार्यक्रमों में भी रात्रि-भोजन बढ़ रहा है जो जैन जीवन शैली के सर्वथा विरुद्ध है तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिकारक है। आज हम अपनी पहचान को खोते जा रहे हैं अतः अपनी अस्मिता को बनाये रखने के लिए हमें रात्रि भोजन की प्रवृत्ति पर संयमन करना आवश्यक है।

रीडर-जैन-बौद्ध दर्शन
संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भक्तामर स्तोत्र में रस और अलंकारो की योजना

डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी

भक्ति काव्यों में स्तोत्र विद्या का अपना विशेष महत्त्व है। जैन धर्म में मूलतः भक्तियों या स्तुतियों की परम्परा काफी प्रचीन है। थुई, थुदि स्तुति, स्तव, स्तवन एवं स्तोत्र के रूप में इसके नामान्तर प्राप्त होते हैं। जैन धर्म का स्तोत्र साहित्य काफी समृद्ध है, किन्तु इस विशाल स्तोत्र साहित्य में शिरोमणि स्तोत्र के रूप में प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्र जन-जन का कण्ठहार बना हुआ है। इस चिर नवीन स्तोत्र के रचयिता सातवीं शती के आचार्य मानतुंग ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं उनके गुणों की भक्ति से ओतप्रोत मात्र अड़तालीस वसन्ततिलका छन्दों में इसकी रचना करके अपने को अमर कर लिया है। कवि ने भाव के सार पर इसमें गागर में सागर भरने की उक्ति चरितार्थ की है। अथ से इति तक कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि इसमें रस, अलंकार, छन्द, भाषा, शैली और शब्दयोजना जैसे काव्यात्मक उपादान आरोपित या आयासित हैं। भक्त और भगवान का इतना तादात्म्य सम्बन्ध तथा अपने इष्टदेव के रूप और गुणों का लोक एवं लोकातीत मिश्रित इतना अधिक चित्रण अन्यत्र दुर्लभ ही है। इसमें भावपक्ष के साथ-साथ सखा भाव के भी दिग्दर्शन होते हैं। इसके कवि मात्र भावुक भक्त ही नहीं अपितु एक उत्तरदायित्वपूर्ण सम्पूर्णता के सृष्टा भी हैं। इसलिए कवि ने इसमें कहीं भी अपने स्वयं के सांसारिक आधि-व्याधि आदि कष्टों से उद्धार की प्रार्थना नहीं की। उन्होंने तो मात्र आदि तीर्थकर ऋषभदेव की केवलज्ञानमय समवशरण स्थित अरिहन्त छवि और इसके गुण, अतिशय तथा प्रभाव का सर्वाङ्गीण चित्रण किया है। इसीलिए इसके 48 पद्य मात्र 48 ही नहीं लगते अपितु इसका प्रत्येक पद्य अपने आप में किसी भी

महाकाव्य का एक-एक अध्याय जैसे लगते हैं, जो पूरे मिलकर एक सफल महाकाव्य की सृष्टि करते प्रतीत होते हैं।

इस स्तोत्र-काव्य पर परवर्ती मनीषियों द्वारा विभिन्न भाषाओं में लिखित शताधिक टीकाओं, विवेचनाओं, गद्य एवं पद्य विद्या के अनुवादों की विपुल संख्या ही इसकी व्यापक लोकप्रियता की प्रमाण हैं। मनीषियों ने इसके प्रत्येक काव्य को यंत्र-मंत्र एवं तत्सम्बन्धी चमत्कार या अतिशय पूर्ण कथाओं से युक्त मानकर इस सम्पूर्ण स्तोत्र को सर्वसिद्धिदायक संकटहरण स्तोत्र माना है। श्रद्धापूर्वक इसके नियमित पाठ और इसके यंत्र-मंत्रों आदि की साधना से जनसामान्य तक ने अनेक लौकिक-अलौकिक चमत्कार होते देखे और अनुभव किये जाते रहे हैं इसीलिए इसकी तत्सम्बन्धी अनेक अनूभूत कथाओं का प्रचलन हुआ। 11वीं शती के आचार्य प्रभाचन्द्र ने इस स्तोत्र को महाव्याधि नाशक तथा 13वीं शती के एक अन्य प्रभाचन्द्र सूरि ने इसका सर्व-उपद्रव हर्ताके रूप में उल्लेख किया है। अन्य मनीषियों ने भी इसे मान्त्रिक शक्ति से सराबोर माना है। इसीलिए भक्त को अन्तरात्मा से प्रस्फुटित स्तवन, विनती, प्रार्थना और श्रद्धा के रूप में इसका नियमित पारायण अनेक आधि-व्याधियों का विनाशक सिद्ध होता है।

वस्तुतः इसके आधार पर भक्त अपने इष्टदेव के गुणों से प्रेरणा लेकर वह अपने मनोबल एवं आत्मबल का ऊर्ध्वीकरण मानता है। वास्तव में इसके प्रत्येक पद्य में मन्त्रों के अक्षरों की ऐसी संयोजना की गई है, जिसकी साधना अपने अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त कराने में पूर्णतः सफल होते हैं।

भक्तामर स्तोत्र में रसों की रमणीयता

प्रायः यह आम-धारणा है कि जैन काव्य शान्तरस प्रधान होते हैं। किन्तु यह धारणा यथार्थ नहीं है। शान्तरस जैनाचार्यों की साधना के अनुकूल जरूर है किन्तु साधना और कवि-कर्म में कोई अनिवार्य अनुबंध

नहीं हैं। पार्श्वाभ्युदय, जयोदय आदि अनेक महाकाव्यों तथा प्रथमानुयोग के अनेक पुराणों में नवरसों का भरपूर समावेश देखने को मिलता है हों। प्रसंगानुसार या कथानक के अनुसार प्रत्येक काव्य शृंगार या शान्त रस या अन्य रस की प्रधानता से युक्त तो होता ही है।

प्रस्तुत भक्तामर स्तोत्र बसन्ततिलका नामक एक ही छन्द के अड़तालीस पदों में निबद्ध एक ऐसा स्तोत्र काव्य है जिसका प्रत्येक पद्य रसानुभूति एवं काव्य के समस्त लक्षणों से युक्त है। नवरसों से युक्त इस स्तोत्र में अथ से इति तक रमणीयता भरी हुई है।

यद्यपि सच्चे भक्त के रूप में कवि ने तीर्थंकर ऋषभदेव एवं उनके विभिन्न गुणों की स्तुति इस स्तोत्र के माध्यम से की है अतः भक्तिरस का प्रवाह सर्वत्र स्वाभाविक रूप में प्रसरित होने से शान्तरस की यहाँ प्रधानता है, किन्तु भक्ति के प्रसंग में अपने आन्तरित भावों को प्रकट करते हुए उन्होंने इसमें वीर, अद्भुत आदि अनेक रसों का संयोजनकर इस स्तोत्र को श्रेष्ठ एवं सफल काव्य का रूप प्रदान किया है।

वीर रस का एक ऐसा अद्भुत उदाहरण कवि ने प्रस्तुत करते हुए कहा है

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश,
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः।
प्रीत्याऽऽत्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्।।

इस पद्य में कवि ने जहाँ विनय, भक्ति और स्तुति की संकल्पना को मनोहारी शैली में व्यक्त किया है, वहीं अपनी अल्पज्ञता और असमर्थता व्यक्त करते हुए कवि ने हरिणी का उदाहरण दिया है कि अपने शिशु की रक्षार्थ कमजोर हरिणी भी सिंह जैसे खूंखार और बलशाली का भी मुकाबला करने को उद्यत रहती है। अपने कर्तव्य पर प्राण न्योछावर करने वाली हरिणी का यह उदाहरण वीर रस के प्रयोग का अप्रतिम

उदाहरण बन गया है।

इसी प्रकार 15वें पद्य में कामपरीषह के आने पर ऋषभदेव का सुमेरु पर्वत के समान अडोल अनेय रहना वीरत्व (संयमवीर) या वीररस का अनुपम निदर्शन कवि ने किया है।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभिर्
नीतं मनागमि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुताचलिता चलेन
किं मंदराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्।।

अर्थात् हे वीतराग प्रभु ! स्वर्ग की परम रूपवती अप्सराओं ने अपने अनेक उत्तेजक हावों-भावों एवं विलास चेष्टाओं द्वारा आपके मन को चंचल या आकृष्ट करने का भरपूर प्रयत्न किया, परन्तु आपका परम संयमी विरागी मन रंचमात्र भी विचलित नहीं हुआ तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि भला, सामान्य पर्वतों को झकझोर देने वाला प्रलयकालीन प्रभंजन (हवा) क्या सुमेरु पर्वत के शिखर को भी हिलाने का कभी दुःसाहस कर सकता है ? कदापि नहीं ?

इस दृष्टि से भक्तामर स्तोत्र का इकतीस वाँ पद्य भी काफी महत्त्वपूर्ण है

छन्नत्रयं तव विभति शशाङ्ककान्त
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकर प्रतापम्।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं,
प्रख्यापयत्यिजगतः परमेश्वरत्त्वम्।।31।।

हे प्रभो! आपके मस्तक के ऊपर स्थित तीन छत्र, जो कि सूर्य किरणों को भी पराजित कर रहें हैं- ये चन्द्रमा की कान्ति के समान सुशोभित हैं। इन छत्रों के चारों ओर सजीं मणि-मुक्ताओं की झालरें इन्हें और भी नयनाभिराम बनाती हुई आपके तीन लोक के आधिपत्य को

विज्ञापित कर रही हैं

इस पद्य में प्रथम तीर्थंकर का चक्रवर्तित्व रूप का विवेचन वीररस के उत्कृष्ट उदाहरण का द्योतन कर रहा है। साथ ही इसमें उपमा अलंकार तथा प्रसादगुण युक्त शैली का अद्भुत संयोजन देखते ही बनता है। यद्यपि कवि ने प्रत्येक पद्य में किसी न किसी रूप में रसों का संयोजन अपने कौशल से प्रस्तुत किया है किन्तु भगवान आदिनाथ के सौन्दर्य के वर्णन-प्रसंग में विशेषकर पद्य सं० 17 एवं 19 में कवि ने बड़ी कुशलता के साथ अद्भुत रस का अच्छा प्रयोग किया है यथा-

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोधरनिरुद्धमहाप्रभावः,
सूर्यातिशायि महिमाति मुनीन्द्र लोके।।

अर्थात् हे मुनीन्द्र ! आपकी तेजस्विता सूर्य से भी अधिक है। क्योंकि आप केवल ज्ञान रूपी ऐसे सूर्य के धारक हैं जो तीनों लोकों को सदा ज्ञान-प्रकाश देता है, जो कभी अस्त नहीं होता। सूर्य को तो राहू ग्रस लेता है परन्तु आपको कोई प्रकाशहीन नहीं कर सकता, आप अजातशत्रु हैं। सूर्य का प्रकाश क्षेत्र सीमित है, पर आप तो त्रिभुवन को सदा प्रकाश दान देते रहते हैं। सूर्य को तो मेघ (बादल) आच्छादित कर लेते हैं, किन्तु आपकी प्रकाश शक्ति को कोई भी अवरुद्ध नहीं कर सकता।

यहाँ भगवान् का जो केवल ज्ञान सूर्य समस्त त्रिलोक को प्रकाश युक्त करता है, वह बात भौतिक सूर्य में असम्भव है। इस कथन के द्वारा आपने कवि समकक्ष उपमानों को कभी हीन सिद्ध करके और कभी समतुल्यता का ही निषेध करके उपमेय (भगवान के गुणों) की सर्वोच्चता सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार पद्य सं० 19-

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं,
गम्यं न राहु वदनस्य न वारिदानम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम्।।19।।

यहाँ भगवान् का मुखकमल विश्व को आलोकित करने वाला विलक्षण एवं अपूर्व चन्द्रमा बतलाया गया है। क्योंकि उनका यह मुख रूपी चन्द्रमा नित्य एवं सर्वत्र उदित होता है, मोहान्धकार को ध्वस्त करता है। इसे मेघ एवं राहु भी ढक नहीं सकते। जबकि जगत् में प्रसिद्ध लौकिक चन्द्रमा में ये सब विशेष कमियॉ हैं।

यहाँ भगवान के मुख में कमलत्व और चन्द्रत्व ये दोनों उपमान की अपनी विलक्षणता लिए हुए हैं। कमल और चन्द्रमा की संगति एक सफल किन्तु विलक्षण प्रयोग है। इस प्रकार इस स्तोत्र का प्रत्येक पद्य रसबोधक तथा अर्थद्योतन में पूर्ण समर्थ है।

अलंकार-योजना

किसी भी सफल काव्य के उपादानों में अलंकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः कवि आपकी भावनाओं को अलंकारों के माध्यम से अत्यधिक सशक्त रूप में अभिव्यक्त करने में सफल होता है। इसी दृष्टि से हमें इस स्तोत्र में भी अलंकार की छटा सर्वत्र दिखलाई देती है। यहाँ उपमा परिकर, अर्थापत्ति, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक एवं दृष्टान्त आदि अनेक अलंकारो का कुशलता से प्रयोग करके कवि ने स्तोत्र में सौन्दर्य की सृष्टि की है। जैसा कि यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस संपूर्ण स्तोत्रकाव्य में भाषा, शैली एवं अलंकार आदि कहीं भी आरोपित एवं आयासित नही हैं। वह सहज एवं प्रासादिक है। आ० मानतुंग ने प्रायः अपने इष्टदेव के स्तवन में तुलनात्मक अर्थात् साम्य-वैषम्य मूलक पद्धति को अपनाया है। उसमें भी वैषम्यमूलक शैली (contrastive style) का आधिक्य है। इस शैली से भाव संप्रेषण में स्पष्टता प्रभावकता एवं

निश्चयात्मकता आनी है। इसीलिए रूपक उपमा और श्लेष उनके प्रिय अलंकार हैं। हीनोपमा पर तो उनका विशेष अधिकार दिखता है। 19वें पद्य में इसे देखा जा सकता है। 16वें पद्य में अनुप्रास अलंकार की छटा दृस्टव्य है

निर्धूमवर्तिरपवर्गित तैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत् प्रकाशः।।

अर्थात् हे ज्योतिर्मय ! आप सम्पूर्ण विश्व को ज्ञान रूपी चिर प्रकाश देने वाले हो लोकोत्तर दीपक हैं, जिसे बाती और तेल की जरूरत नहीं और जिससे धुँआ भी नहीं निकलता, बड़े-बड़े ऊँचे पर्वतों को झकझोरकर देनेवाली आँधी भी जिसका बाल बॉका नहीं कर सकती। लौकिक दीपक क्षणिक प्रकाश देता है, और अल्पायु होता है, जबकि प्रभु का केवल ज्ञान रूपी दीपक अक्षय है और अन्तरात्मा को प्रकाशित करता है। कवि ने सम्पूर्ण स्तोत्र में सूर्य, चन्द्र, कमल, दीप, समुद्र, पवन आदि प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग तो किया, किन्तु बिलकुल नये दृष्टिकोण से उन्होंने अपने उपमेय की तुलना में सर्वथा हीन सिद्ध किया है। उपमान-उपमेय का साम्य-वैषम्य तथा तिरस्कृतवाच्य ध्वनि भी अभिप्रेत प्रभाव-प्रेषण में सहायक है।

भक्तामर स्तोत्र में उपमा अलंकार का बहुविध प्रयोग देखने को मिलता है। जहाँ उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य स्थापित किया जाए वहाँ उपमा अलंकार होता हैं। प्रस्तुत स्तोत्र में इसकी छटा अनेक पद्यों में झलकती है। "सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश" नामक पूर्वोक्त पंचम पद्य में जब कवि कहते हैं कि हे प्रभो! हरिणी दुर्बल होने पर भी अपने शिशु की रक्षार्थ आक्रमणकारी सिंह का भी मुकाबला करती ही है। यहाँ भक्त की उपमा मृगी से की गई है। यद्यपि सिंह उसके सामने होता है, अपनी असमर्थता का ज्ञान भी उसे होता है किन्तु

अपने शिशु के साथ असीम वात्सल्य होने के कारण वह हरिणी क्या सिंह से जूझने के लिए तैयार नहीं होती ? होती ही है। इसी तरह भक्त अपनी अज्ञानता से परिचित होते हुए भी स्तुति में प्रवृत्त होता है। यहाँ भक्त कवि ने अपनी उपमा उस मृगी से की है। अतः उपमा अलंकार का यह श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

इसी स्तोत्र के "त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निवद्धं" नामक सातवें पद्य के अन्तिम चरण "सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकरम्" में भगवान् की स्तुति कर्मान्धकार विदारण रूप सामर्थ्य को द्योतित करने के लिए सूर्यांशु को उपमान बनाया गया है। इसी प्रकार "मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद... नामक आठवें पद्य, आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं नामक पद्य तथा उच्चैरशोकतरुसंश्रित नामक 29 वें पद्य में उपमा अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

इसी प्रकार कविने दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग भी अनेक पद्यों में किया है। दृष्टान्त अलंकार वह है, जहाँ उपमेय-उपमान में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है। बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादमीठ...नामक तृतीय पद्य के "बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब" इस चरण में भक्त कवि असमर्थता प्रकट करते हैं। इसी तरह दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष विलोकनीयम्... नामक 11वें पद्य के "पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्ध सिन्धोः- इस चरण में दृष्टान्त अलंकार के साथ अर्थापत्ति का अच्छा प्रयोग हुआ है। इस पद्य में अर्थगर्भी भाषा, माधुर्य गुण तथा उपमा एवं दृष्टान्त अलंकार की छटा मूल भाव को अभिराम बनाती हैं।

स्तुति काव्यों का प्रिय परिकर नामक अलंकार भी यहाँ भरपूर छटा के साथ अनेक पद्यों में विद्यमान है। साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग परिकर अलंकार का लक्षण हैं। "नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ" नामक 10वें "बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित"... नामक 25वें आदि पद्यों में तो परिकर अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

व्यतिरेक अलंकार भी इस स्तोत्र का प्रिय अलंकार है। सामान्यतया उपमान, उपमेय से अधिक गुण वाला होता है, किन्तु जहाँ: उपमेय की अपेक्षा उपमान ह्रस्व हों, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। इसकी छटा तो यहाँ अनेक पद्यों में दिखती है जहाँ तीर्थंकर ऋषभदेव की गुणीय उदात्तता एवं सर्वोच्चता का प्रतिपादन करने के लिए कवि ने इसका उपयोग किया है। "नास्तं कदाचित् नामक 17 वें पद्य के अन्तिम चरण सूर्यातिशायी महिमासि मुनीन्द्र लोके"- इस चरण में भक्त कवि समकक्ष उपमानों की कभी हीन सिद्ध करके तो कभी समतुल्यता का ही निषेध करके उपमेय की सर्वोच्चता सिद्ध करते हैं। इसी तरह 18वें एवं 19वें पद्य में मुख सौन्दर्य की अधिकता मन्ये वरं नामक 21वें पद्य में तीर्थकर भगवान् की श्रेष्ठता, स्त्रीणां शतानि नामक 22वें पद्य में तीर्थकर ऋषभनाथ की माता का लोकोत्तर मातृत्त्व आदि व्यतिरेक अलंकार के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

इस प्रकार भक्तामर स्तोत्र का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर हमें इसके प्रत्येक पद्य में रस और अलंकारों की छटा सर्वत्र विखरी हुई मिलती है। किन्हीं-किन्हीं पद्यों में एक से अधिक अलंकारों का प्रयोग भी इस स्तोत्र का वैशिष्ट्य है।

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

यह सप्तरंगी अभिषेक कहां से आया ?

पानचन्द जैन पूर्व जस्टिस, जयपुर

जैनधर्म में निजी पुरुषार्थ को व व्यक्ति के आचरण को सर्वोपरि माना गया है। कारण कार्य अनुभूत कर्म सिद्धान्त जैनधर्म की विधा है। जैनधर्म के सिद्धान्तों के अनुसार स्वयं तीर्थंकर भी किसी के अच्छे बुरे कर्मों को हीनाधिक नहीं कर सकते, किन्तु स्वयं व्यक्ति अपने सम्यक् तप आचरण, त्याग से कर सकता है। यही कारण है कि वीतराग प्रतिमाओं से किसी भी प्रकार की याचना वर्जित की गई है, किन्तु आज अधिकांश आचार्य, मुनिगण, कई प्रकार के विधानों से आशीष देते हैं और किसी को तो श्राप तक दे देते हैं।

जैनधर्म की शाश्वतता व अमरता का आधार है, उसके अहिंसा, अनेकान्त व अपरिग्रह के सिद्धान्त। जैनी कर्मवादी है। यदि कर्म सिद्धान्त सही है तो मंत्र तंत्र विधानादि प्रदर्शनों, जुलूसों के लिए प्रभावना का तर्क दिया जाना मिथ्या है, क्योंकि इनसे कोई प्रभावना नही होती। किसी भी धर्म की वास्तविक प्रभावना उसके अनुयायियों के चरित्र और आचरण से होती है। जैनियों के आचरण से ही उनकी विशिष्ट प्रतिष्ठा रही है। भूतकाल में जाकर देखें तो विलासी नवाब व राजा प्रतिष्ठावान जैनियों को उच्च पद पर बैठाते थे। मंत्री पद और कोषाध्यक्ष का पद अधिकांशतः जैनियों को ही दिया जाता था, किन्तु वर्तमान में यह प्रतिष्ठा लगभग समाप्त सी हो गई है। क्योंकि हमारा स्वयं का व साधु का आचरण शुद्ध नहीं रहा। हमारी कथनी करनी में भेद आ गया है। वर्तमान में आचार्य, साधु साध्वियों की भरमार है। साथ ही उनके अपने विधानों की भी भरमार है। आचार्य, मुनि व साधु साध्वियां भिन्न-भिन्न विधाओं का प्रतिपादन करतें रहें हैं, किन्तु व्यक्तिगत चरित्र निर्माण का जैनधर्म की अस्मिता का जैनी की पहिचान का कोई भी कार्य करता कोई दिखाई नहीं देता। सभी विधानों में अहिंसा व अपरिग्रह के सिद्धान्तों का घोर हनन होता है। यहां तक कि वीतराग तीर्थंकरों की पूजा अर्चना में भी परिग्रह की पराकाष्ठा दिखाई देती है। अपरिमित भव्यता में परिग्रह के मूल

सिद्धान्त तिरोहित हो गए हैं। तीर्थंकर तो परम अपरिग्रही होते थे और इसी का उपदेश देते हैं, किन्तु आज आचार्यों के अनुयायी व आचार्य स्वयं भी अपनी मान प्रतिष्ठा में परिग्रह के प्रदर्शन से अपने ही उपदेश व जैन धर्म के सिद्धान्तों की अवमानना कर रहे हैं। तीर्थंकर अथवा महापुरुष अपनी स्वयं की पूजा का उपदेश कोई नहीं देता। उनका उपदेश तो निर्दिष्ट सन्मार्ग अपनाने का ही होता है। एक बात मैं विशेष तौर पर कहना चाहूंगा क्योंकि यह विचित्र विडम्बना है कि अभिषेक जो एकमात्र जन्म कल्याणक के समय ही निर्दिष्ट है, वीतराग प्रतिमा पर भी किया जाता है जबकि साधु अवस्था में भी स्नान वर्जित है।

महामस्तकाभिषेक महोत्सव अब एक आम बात हो गई है। अभी कुछ समय पूर्व ही हमने श्रवणबेलगोला में महामस्तकाभिषेक महोत्सव देखा। कलशों से अपार धन संग्रह हुआ। यह सच है कि इस धन के उपयोग हेतु कुछ योजनाएं बनाई गई है, किन्तु उसका कार्यान्वयन कैसे होता है। यह भविष्य बतलायेगा। पंचकल्याणक के समय अथवा ऐसे ही महोत्सवों पर कितने धन का अपव्यय हुआ है इसका अनुमान लगाना कठिन है। दिगम्बर जैन समाज में प्रतिवर्ष 500 करोड़ का अपव्यय विधानादि में अनुमानतः होता है। इसकी राशि के ब्याज से अनेक सत्कार्य जैसे औषधालय, विधवा आश्रम, विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय संचालित किए जा सकते हैं और यदि ऐसा किया तो उससे जैन धर्म की प्रभावना ही बढ़ेगी, किन्तु ऐसा नहीं होता, सारा धन खाने में तथा अन्य अनावश्यक कार्यों में बर्बाद कर दिया जाता है। जैनधर्म की संस्कृति इस बात की ओर इंगित करती है कि विवेक व सादा जीवन, सादा व्यवहार एवं सादा खाना यह आत्मीय गुणों की वृद्धि करता है, किन्तु हमारा आचरण सर्वथा इसके विपरीत है। आपकी बात से मैं सहमत हूं कि जब जलाभिषेक, पंचामृत अभिषेक की बात हम करते हैं तो फिर यह सप्तरंगी अभिषेक कहां से आया ? किस धार्मिक पुस्तक में इसकी व्यवस्था दी गई है ? जैनधर्म में तो तीर्थंकरों को भोग लगाने का कोई विधान भी नहीं है फिर सप्तरंगी अभिषेक क्या विधा है। यह केवल मात्र धन का दुरुपयोग है तथा धन का भोंड़ा प्रदर्शन मात्र है।

यह कहना सही है कि अ. भा. दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष के सानिध्य में दिगम्बर जैन राष्ट्रीय शीर्ष संस्थाओं की कोर्डिनेशन कमेटी ने अपनी बैठक में यह प्रस्ताव पारित किया था कि तीर्थों व मंदिरों में प्रचलित जो परम्पराएं चली आ रहीं हैं उनमें बदलाव नहीं होना चाहिए। फिर समझ में नहीं आता कि सप्तरंगी अभिषेक की सूझ किसके मस्तिष्क की उपज है ? ऐसा मालूम होता है कि किसी गरीब जैन के लिए बावनगजा महा मस्तकाभिषेक में शामिल होना संभव ही नहीं है क्योंकि बिना कलश राशि दिए न तो वह कलश कर सकता है और न ही उसे कोई आवास की सुविधा प्राप्त होगी। मेरा तो यह मत है कि पंचकल्याणक आदि के भव्य आयोजन समाप्त होने चाहिए और जै समाज को जो धन आयोजनों से प्राप्त होता है उस धन से राष्ट्र हित में जनोपयोगी योजनाएं बनाई जाना चाहिए जिसे जैन समाज की प्रभावना होगी, धर्म की प्रभावना होगी। मानवता की प्रभावना होगी। मानव की सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है। वर्तमान में साधुओं के आचरण को लेकर अंगुली उठाई जा रही है और विडम्बना है कि समाज उन्हीं साधुओं द्वारा निर्देशित विधानों का प्रतिपादन करते हैं। हमारी प्रतिष्ठा को भारी आघात लग चुका है।

आज यदि जैन धर्म को बचाना है तो हम सबको इस विषय पर चिन्तन करना चाहिए। हमें एक दूसरे की बात के खण्डन से बचना होगा। अनेकान्त की विचारधारा से हम आपस में मिल जुलकर समाधान निकाल सकते हैं। आंख पर पट्टी बांधकर मुनिभक्त होने से बचना होगा। हमें अपनी मर्यादा में रहना है और साथ ही अपने साधुओं को अपनी मर्यादा में रखना होगा। आज जैनधर्म पर सभी ओर से आक्रमण हो रहे हैं हम इसका मुकाबला संगठित होकर ही कर सकते है। समाज को हमें समझाना होगा कि जैनधर्म स्वतंत्र धर्म है। जैनों को भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक का दर्जा प्राप्त है, जिसके आधार पर हम हमारे स्कूल, कॉलेज आदि चलाने में स्वतंत्र हैं, जहां सरकार का कोई दखल नहीं होगा।

307-306, तीसरी माला, गणपति प्लाजा एम.आई. रोड़, जयपुर

(समन्वय वाणी वर्ष 28/1 से साभार)